"'GLOBLE GAON KE DEVTA' MEIN AADIVASI AAKHAN EVAM VIMARSH"

Dissertation submitted to the University of Hyderabad in partial fulfillment of the degree

MASTER OF PHILOSOPHY

IN

HINDI

By

TONDAKUR LAXMAN POTANNA M.A.

2011

Department of Hindi, School of Humanities

University of Hyderabad

(P.O.) Central University, Gachibowli

Hyderabad –500046.

Andhra Pradesh

India

अनुक्रमणिका

DECLARATION

I ***Tondakur Laxman Potanna*** hereby declare that the dissertation entitled ***"GLOBLE GAON KE DEVATA MEIN AADHIVASI AAKHYAN EVAM VIMARSH" ("ग्लोबल गाँव के देवता में आदिवासी आख्यान एवं विमर्श")*** submitted by me under the guidance and supervision of Dr. Bhim Singh is a bonafide research work. I also declare that it has not been submitted previously in part or in full to this University or any other University or Institution for the award of any degree or diploma.

Date: 30.06.2011

TONDAKUR LAXMAN POTANNA

Signature of the Student

Regd. No. 10HHHL17

CERTIFICATE

This is to certify that the dissertation ***"GLOBLE GAON KE DEVATA MEIN AADHIVASI AAKHYAN EVAM VIMARSH" ("ग्लोबल गाँव के देवता में आदिवासी आख्यान एवं विमर्श")*** submitted by ***Tondakur Laxman Potanna*** bearing Regd. No. 10HHHL17 in partial fulfillment of the requirements for the award of Master of Philosophy in HINDI is a bonafide work carried out by him under my supervision and guidance.

The dissertation has not been submitted previously in part or full to this or any other University or Institution for the award of any degree or diploma.

Signature of the Supervisor

Head of the Department

Dean of the School

अनुक्रमणिका

प्रस्तावना **i-iv**

प्रथम अध्याय **1-14**

आदिवासी : अवधारणा एवं स्वरूप

1.1 'आदिवासी' शब्द से आशय

1.2 'आदिवासी' शब्द का कोशीय अर्थ

1.3 'आदिवासी' शब्द के समानान्तर शब्द

1.4 'आदिवासी' विमर्श की अपेक्षा

1.5 'आदिवासी' साहित्य का स्वरूप

द्वितीय अध्याय **15-42**

हिन्दी उपन्यासों में चित्रित आदिवासी-जीवन

2.1 पृष्ठभूमि

2.2 आज़ादी-पूर्व

2.3 आज़ादी पश्चात (1990 तक)

2.3.1 कचनार-वृन्दावनलाल वर्मा

2.3.2 धरती मेरा घर-रांगेय राघव

2.3.3 गाथा भोगनपुरी-किशोर कुमार सिन्हा

2.4 1990 से अद्यतन

2.4.1 जहाँ बाँस फूलते हैं-श्रीप्रकाश मिश्र

2.4.2 अल्मा कबूतरी-मैत्रेयी पुष्पा

2.4.3 काला पादरी-तेजिंदर

2.4.4 जो इतिहास में नहीं है-राकेश कुमार सिंह

2.4.5 धूणी तपे तीर-हरिराम मीणा

तृतीय अध्याय **43-60**

रणेंद्र : व्यक्तित्व एवं कृतित्व

3.1 व्यक्तित्व

3.1.1 जन्म

3.1.2 परिवेश

3.1.3 साहित्य-सृजन

3.1.4 सेवाकार्य

3.1.5 सम्मान एवं पुरस्कार

3.2 कृतित्व

3.2.1 रात बाकी एवं अन्य कहानियाँ

3.2.2 ग्लोबल गाँव के देवता

3.2.3 थोड़ा सा स्त्री होना चाहता हूँ

3.2.4 झारखण्ड एन्साइक्लोपीडिया

चतुर्थ अध्याय **61-88**

'ग्लोबल गाँव के देवता' में आदिवासी आख्यान एवं विमर्श

4.1 'आख्यान' का अर्थ

4.2 'मिथक' से तात्पर्य

4.3 'आख्यान' से 'मिथ' में बदलना

4.4 सांस्कृतिक सत्ता का वर्चस्व

4.5 आदिवासी आख्यान एवं विमर्श

पंचम अध्याय **89-100**

ग्लोबल गाँव के देवता का शिल्प-विधान

5.1 कथा-वस्तु

5.2 भाषा-विधान

5.3 लोकोक्ति और मुहावरों का प्रयोग

5.4 शब्द-भंडार

उपसंहार **101-103**

परिशिष्ट **104-107**

प्रस्तावना

प्रस्तावना

साहित्य समाज द्वारा प्राप्त व्यक्ति की अनुभव प्रकिर्णीताओं का फूल है, जिसे वह एक विधा माध्यम के द्वारा अभिव्यक्त करता है। रचनाकार अपने अनुभव जीवन के सेतु के माध्यम से अनुभवों की व्यापक संरचना करते हुए समाज जीवन के विविधांगी सरोकारों को रचना के माध्यम से रेखांकित करता है। परिवर्तन सृष्टि का मूल नियम है अतः उसी प्रकार वह मानव एवं समाज का अन्यान्याश्रित संबंध है । साहित्य की अविरल धारा समाज की विभिन्न चित्तवृत्तियों को रेखांकित करती आ रही है।

भारत एक विभिन्न धर्म, जाति, संप्रदाय एवं संस्कृतियों में बंटा देश है । जहाँ की सामाजिक स्थिति विभिन्न रूपों में दिखाई देती है।

मानव जाति सांस्कृतिक, भाषाई एवं सामाजिकता की दृष्टि से निरंतर सजातीयता की ओर अग्रसर हो रही है, किंतु इस अविरल यात्रा में कुछ अफ़सोस जनक पहलू भी शामिल हैं। अनेक ऐसी प्राचीनतम संस्कृतियाँ हैं जो मृतप्राय है या विलीन होने की कग़ार पर है। इसी प्रकार की विस्तृत श्रेणी में आदिवासी, जनजातिय अथवा आदिवासी जैसे नामों से जानी जानेवाली मानवता का एक बड़ा अंश शामिल है । पूर्व यांत्रिक अर्थव्यवस्था, अपरिष्कृत अनुष्ठान, अपनी विकसित बोली के लिए लिपि का अभाव और छोटे सामुदायिक समाज आदि इन समूहों की विशेषताएँ हैं।

भारत में हज़ारों वर्षों से जंगलों एवं पहाड़ों में रह रहीं आदिम जनजातियों ने खुले मैदानों तथा सभ्यता के केद्रों में बसे लोगों से अधिक संपर्क स्थापित किए बिना ही अपने अस्तित्व को बनाए रखा है किंतु औद्योगिक सभ्यता का विकास संपूर्ण जनजातिय संस्कृति को पूरी तरह नष्ट कर रहे है । वे तब से अपने अस्तित्व के साथ संघर्ष कर रहा हैं, जब से तथाकथित आधुनिक सभ्यता के ध्वजावाहकों ने उनके समाज में घुसपैठ की है। उनके जीवन दर्शन एवं पारंपारिक मूल्य व्यवस्था बिखराव के कग़ार पर है। इसे आधुनिक गद्य साहित्य ने

विशेष रूप से उपन्यास विधा के माध्यम से विविध रचनाकारों ने अभिव्यक्त किया है। इसी संदर्भ में दृष्टव्य है- रणेंद्र का 'ग्लोबल गाँव के देवता'।

'ग्लोबल गाँव के देवता' एक ऐसा उपन्यास है, जिसमें भारत के विशेष रूप से झारखंड के एक आदिवासी समुदाय का अपने अस्तित्व, आत्मसम्मान और अस्मिता की रक्षा के लिए लंबे संघर्ष और लगातार मिटते जाने की प्रक्रिया का संवेदनशील चित्रण है- वह समुदाय 'असुर' नाम के आदिवासियों का है। आदिवासी समुदायों पर उपन्यास लिखते समय उपन्यासकार का एक काम आदिवासियों के यथार्थ को समग्रता से समझना है। तो दूसरा काम उनके प्रभाव से मुक्त होकर आदिवासियों के जीवन के इतिहास को व्यक्त करना। 'ग्लोबल गाँव के देवता' के लेखक रणेंद्र ने ऐसे दोनों काम किए हैं। इस उपन्यास के माध्यम से आदिवासियों का जो इतिहास पाठकों के सामने आता है, वह अपने जंगल, ज़मीन और जीवन को आक्रमणकारियों से बचाने के लिए आदिवासियों के कठिन, घातक और कई हज़ार वर्ष लंबे संघर्ष का इतिहास है। भारत में जब भी शक्तिशाली सम्राटों और साम्राज्यों का उदय हुआ है, तब-तब असुरों के जंगल,ज़मीन और जीवन पर सांघातिक आक्रमण हुए हैं।

जैसे आचार्य शुक्ल मानते हैं कि, 'साहित्य जनता, की संचित चित्तवृत्तियों का प्रतिबिंब है।' आदिवासी असुर समाज की चित्तवृत्ति के इतिहास और संस्कृति का आख्यान तथा इनके अस्तित्व की ऐतिहासिक चेतना का वर्तमान ग्लोबल गाँव में उनकी स्थिति का अंकन 'ग्लोबल गाँव के देवता' इस उपन्यास में दर्ज हुआ है।

इस लघु शोध-प्रबंध का उद्देश्य प्रस्तुत उपन्यास 'ग्लोबल गाँव के देवता' में आदिवासी आख्यान और विमर्श को विवेचित करना रहा है।

लघु शोध-प्रबंध की सुविधा हेतु मैंने इसे भूमिका और उपसंहार के अलावा इस लघु-शोध प्रबंध को मुख्यतः पाँच अध्यायों में विभाजित किया है।

प्रथम अध्याय- 'आदिवासीः अवधारणा एवं स्वरुप' में व्यापक रूप से आदिवासी शब्द एवं समाज, संस्कृति पर विचार किया गया है और साथ ही आदिवासी साहित्य एवं विमर्श पर दृष्टि केंद्रित कर अध्ययन प्रस्तुत किया गया है।

द्वितीय अध्याय- 'हिंदी उपन्यासों में चित्रित आदिवासी जीवन' पर व्यापक विचार करते हुए आदिवासी समाज पर लिखें गए साहित्य पर विचार करते हुए उनके विमर्श केंद्रित मुद्दों को विवेचित किया है।

तृतीय अध्याय- 'रणेंद्रः व्यक्तित्व एवं कृतित्व' पर व्यापक रूप से विवेचन किया गया है। किसी भी रचनाकार को समझने के लिए उसके जीवनवृत्त का भी बड़ा योगदान होता है। रचनाकार का प्रारंभिक जीवन कैसा रहा, उस पर किसका प्रभाव रहा तथा उसने क्या-क्या गुण ग्रहण किए, उसके व्यक्तित्व का विकास किस प्रकार हुआ? ये सभी बातें रचनाकार की रचनाओं को समझने में सहायता प्रदान करती हैं। इसी को ध्यान में रखकर इस लघुशोध प्रबंध का तीसरा अध्याय 'रणेंद्रः व्यक्तित्व एवं कृतित्व' रखा गया है।

चतुर्थ अध्याय-में लघु शोध विषय के विवेच्य बिंदु 'ग्लोबल गाँव के देवता' में आदिवासी आख्यान एवं विमर्श की व्यापक रूप में विवेचित किया है, जिसमें आख्यान और विमर्श को परिभाषित करते हुए दोनों तत्वों के आधार पर उपन्यास का विवेचन किया गया है तथा इसके अंतर्विरोधों को भी रेखांकित किया गया है। जिसमें आदिवासी विमर्श को मूल चेतना स्पष्ट होती है।

पंचम अध्याय- 'ग्लोबल गाँव के देवता का शिल्पविधान' में औपन्यासिक तत्वों के आधार पर शिल्प का विवेचन किया गया है तथा उपन्यास के शिल्प विषयक कलात्मकता के रहस्य को विवेचित किया है। इस लघु शोध-प्रबंध के सार को उपसंहार में प्रस्तुत किया गया है। अतः अनुसंधान मूल्यांकन के लिए प्रस्तुत है।

अंततः मेरी अध्ययन विषयक रूचि का परिष्कार करते हुए गुरूवर एवं शोध-निदेशक डॉ. भीमसिंग ने सूयोग मार्गदर्शन किया और प्रोत्साहित किया इसे शब्दों में बांधना मेरे लिए

कठिन है, अतः उनके प्रति धन्यवाद ज्ञापन की दृढ़ता न करते हुए आशा करता हूँ कि उनका इसी प्रकार का मार्गदर्शन तथा आशीर्वाद मुझे भविष्य में भी प्राप्त होगा।

मैं आभारी हूँ हैदाराबाद विश्वविद्यालय की हिंदी विभागाध्यक्ष एवं गुरूजनों का जिन्होंने समय-समय पर प्रोत्साहन दिया।

ऋणी हूँ अपनी करूणामयी और दृढ़निश्चयी, माता श्रीमती राजमणीबाई और पिता श्री पोतन्ना तथा मेरे छोटे भाई सुरेश का अक्षर जिन्हें ज्ञान न होते हुए भी मुझे पढ़ने योग्य बनाया। जिनकी दृढ़ता मेरा संबल बनी वो मेरे मामा हनमंलु लखमावाड का। साथ ही मैं नहीं भूल सकता अपने अग्रज डॉ. मनोहर पाटील बन्नालीकर, डॉ. रणभीरकर सर, डॉ. सुरेश भैय्या, विनायक दादा, प्रणव भैय्या, सुनिल भैय्या, घनश्याम दादा, जनार्दन भैय्या, वासु, मोबिन तथा मेरे मित्र राज, झपाटे, साईनाथ पुजरवाड और सभी मेरे वर्ग मित्रों के सहयोग के बिना यह लघु शोध-प्रबंध अधुरा हैं।

शोध के लिए अनुपलब्ध सामग्री को समय-समय पर उपलब्ध करवाने के लिए तथा तत्संबंधी आवश्यक जानकारी देने के लिए रणेंद्र जी का इस आशा के साथ धन्यवाद ज्ञापन करता हूँ कि अपने लेखन से पाठकों को सदा उपकृत करते रहेंगे।

अंत में उन सभी विद्वानों, रचनाकारों, सुधीजनों तथा हिंदी विभाग के तमाम प्राध्यापकों, जिनके लेखन के कारण ही मुझे शोध-कार्य करने का प्रस्थानबिंदु एवं इतिश्री करने की प्रेरणा मिली।

तोंडाकूर लक्ष्मण पोतन्ना

प्रथम अध्याय

आदिवासी : अवधारणा एवं स्वरूप

1.1 'आदिवासी' शब्द से आशय

1.2 'आदिवासी' शब्द का कोशीय अर्थ

1.3 'आदिवासी' शब्द के समानान्तर शब्द

1.4 'आदिवासी' विमर्श की अपेक्षा

1.5 'आदिवासी' साहित्य का स्वरूप

प्रथम अध्याय

आदिवासीः अवधारणा एवं स्वरुप

आदिवासी जनजाति, आदिम जाति एवं वनवासी जैसे अनेक पर्यायवाची शब्दों का प्रयोग अंग्रेजी शब्द 'ट्राइब्स' के भारतीय हिंदी अनुवाद के रूप में होता है । भारतीय संदर्भ में जनजाति के साथ-साथ अनुसूचित जनजाति शब्द का प्रयोग भारतीय समाज की एक अन्य विशेषता है । सामान्यतः किसी भी सूचीबध्द जनजाति श्रृंखला को अनुसूचित कहा जा सकता है, किंतु जब वह शब्द भारतीय जनजातियों के साथ प्रयुक्त होता है तब वह जनजातियों के साथ संवैधानिक संरक्षण से संबंधित होता है ।

भारत बहुसांस्कृतिक, बहुभाषी, बहुप्रजातीय एवं बहुलधर्मी देश है । जनजातियों की भिन्नता के आधार पर उनकी संख्या भी भारत में अन्य समाजों की तुलना में अधिक है । अलग-अलग भौगोलिक पर्यावरण एवं विकास के विभिन्न सोपानों से संबध्दता के कारण भारतीय जनजातियों में यह वैभिन्न स्पष्ट दिखाई देता है ।

1.1.'आदिवासी' शब्द से आशय

'आदिवासी' की स्पष्ट परिभाषा देना अत्यंत कठिन कार्य है, क्योंकि आदिवासी समाज की कोई भी पूर्ण रूप से मान्य परिभाषा अब तक प्रचलित नहीं हो पाई है । वैसे समय-समय पर आदिवासी की विभिन्न परिभाषाएँ दी गई हैं परंतु ये परिभाषाएँ केवल विशेष परिस्थिति की हैं तथा केवल किसी जनजाति विशेष के लिए ही उपयुक्त सिध्द हो सकती हैं । एक जनजातीय समाज दूसरे जनजातीय समाज से भिन्न हो सकता हैं । आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक, भाषाई तथा जनसंख्या के आधार पर इनकी विशेषताएँ अलग-अलग हो सकती हैं । उदाहरण के लिए विद्वानों द्वारा दी गयी कुछ परिभाषाएँ निम्न रूप में देख सकते हैं ।

"आदिवासी' शब्द अंग्रेजी के 'एबोरिजिन' (Aborigine) शब्द का पर्याय है ।"[1] आदिवासी शब्द का शाब्दिक अर्थ है- किसी देश का मूल निवासी ।

1) रिचार्ड का कथन है कि, "समूहों की श्रृंखला परिणाम में जब बढ़ती जाती है तब उसका अंत राष्ट्र में होता है । समूह की यह क्रमिक वृध्दि प्रायः आदिम जातियों में पाई जाती है- इन आदिम जातियों को हम जनजाति कहते है । जनजाति एक ऐसे समूह का नाम है जो आर्थिक दृष्टि से आत्मनिर्भर होता है, समान भाषा बोलता है और जब किसी बाहर के शत्रु का सामना करना होता है, तब इस समूह के लोग मिलकर एक हो जाते हैं ।"[2]

2) भारत के प्रसिध्द मानव-शास्त्री डॉ. मजूमदार ने जनजाति की अत्यंत सटीक परिभाषा की है-"आदिवासी परिवारों तथा पारिवारिक वर्गों का एक ऐसा समूह जो सामान्य नाम धारण किये हुए है । इसके सभी सदस्य एक ही भूमि पर वास करते हैं और एक ही भाषा-भाषी, विवाह की प्रथाओं तथा कारोबार संबंधी एक ही नियम का पालन करते हैं । वे आदान-प्रदान संबंधी पारस्पारिक व्यवहार को विकसित करते रहते हैं । साधारणतया आदिवासी अंतर्विवाह-सिध्दांत का समर्थन करते हैं और साथी सदस्य अपनी ही जन-जाति के अंतर्गत विवाह करते हैं । कई गोत्र मिलकर आदिवासी जनजाति की रचना करते हैं । प्रत्येक गोत्र सदस्यों का परस्पर रक्त-संबंध जुड़ा होता है । इनमें या तो अनेक लघु वर्ग एक बृहतवर्ग में सम्मिलित हो जाते हैं अन्यथा उनके वंश का परंपरागत सरदार होता है । इस दृष्टि से आदिवासी जनजाति को एक राजनीतिक संघ भी माना जाता है ।"[3]

3) जेकब्स और स्टर्न के मतानुसार- "एक ऐसा ग्रामीण समुदाय या ग्रामीण समुदायों का एक ऐसा समुह जिसकी समान भूमि हो, समान भाषा हो, समान संस्कृति हो और जिस समुदाय के

---

[1] .भारतीय समाज संस्थाएं और संस्कृति, पृ.सं.05

[2] आदिवासियों के बीच, पृ.स.11

[3] भारत की जनजातियाँ, पृ.सं.75

व्यक्तियों का जीवन आर्थिक दृष्टि से एक दूसरे के साथ ओत-प्रोत हो वही आदिवासी कहलाता है ।"[4]

4) डॉ.रिवर्स ने कहा है कि "आदिवासी जनजाति एक ऐसा सरल-सा समूह है जिसके सदस्य एक बोली बोलते हों, और जो युध्द के समय सम्मिलित रूप से कार्य करते हों ।"[5] रिवर्स का मत है कि अन्य व्याख्याकारों ने इस समूह का एक सामान्य भू-भाग पर रहना आवश्यक बतलाया है, परंतु यह ठीक नहीं है । कारण अनेक आदिवासी जातियाँ घूमते-फिरते हुए जीवन व्यतीत करती हैं, इसलिए इसकी परिभाषा में सामान्य भू-भाग का होना आवश्यक नहीं है ।

Oxford Dictionary में लिखा है –

"A TRIBE is a grup of people in a primrtive or barbarous stage of development acknowledging the authority of a chief and usually regarding them selves as having a common ancestor"[6]

Ralph Linton ने लिखा है-

"IN Its Simplest from the tribe is a grup of bands occupying a contiguous territories and having a feeling of unity deriving from numbeous similarities in culture, freqnent contacts, and a certain community of interest"[7]

5) भारत के संदर्भ में 'आदिवासी' की परिभाषाः- भारतीय समाज के कुछ विशेष समूहों को जनजातीय रूप में वर्गीकृत करने की परंपरा 19वीं सदी में अंग्रेज शासकों द्वारा प्रारंभ की

---

[4] वही, पृ.सं.75

[5] वही, पृ.सं.76

[6] Tribal India, पृ.सं.32

[7] वही, पृ.सं.32

गयी। उल्लेखनीय है कि ऐसे समूहों के लिए एक से अधिक लोकप्रिय संबोधन शब्द प्रचलित रहे हैं, यथा-आदिवासी, वन्यजाति, पर्वतवासी, वनवासी और आदिम जाति। स्वतंत्र भारत के संविधान में वर्णित 'अनुसूचित जनजाति' की सूची का आधार वही है जिसे विदेशी शासकों ने तैयार किया था। सूची तैयार करते समय जनजाति की मानवशास्त्रीय परिभाषा पर विशेष ध्यान न देकर केवल उन्हें सम्मिलित किया गया जो हिंदू वर्ण व्यवस्था के बाहर थे, साथ ही सदियों से उपेक्षित रहें।

"भारतीय संविधान के अनुच्छेद 366(25) के अनुसार, जनजातीय से तात्पर्य उन जनजातीय समुदाय अथवा जनजातीय समुदायों के अंशों या समूहों से है जो संविधान के अनुच्छेद 342 के तहत अनुसूचित जनजातियों के रूप में माने गये हैं। इसी अनुच्छेद के तहत राष्ट्रपति के द्वारा आम सूचना जारी की जाती है।"[8]

1.2. आदिवासी शब्द का कोशीय अर्थ :

विभिन्न शब्द कोशों में 'आदिवासी' शब्द का अर्थ भिन्न-भिन्न मिलता है जो निम्न है-

'मानक हिंदी कोश'– में आदिवासी शब्द का अर्थ इस प्रकार दिया गया है– 1."किसी देश या प्रांत के वे निवासी जो बहुत पहले से वहाँ रहते आये हो और जिनके बाद और लोग भी वहाँ आकर बसे हो। आदिम निवासी"। 2."आधुनिक भारत में उड़ीसा, बिहार, मध्यप्रदेश आदि में रहने वाली ओराँव, खरिया, पहाड़िया, मुंडा, संथाल आदि पुरानी जन-जातियाँ।"[9]

'भारतीय संस्कृति कोश'- में आदिवासी शब्द का प्रयोग दो अर्थों में होता है – ऐसे निवासी जो किसी क्षेत्र के मूल निवासी हो और ऐसे निवासी जो प्राचीनतम निवासी हो। दूसरी कोटि के व्यक्तियों के लिए किसी क्षेत्र का मूल निवासी होना आवश्यक नहीं है। भारत में 292

[8] जनजातीय भारत, पृ.सं.3

[9] मानक हिंदी कोश, पृ.सं.264

आदिवासी समूहों की गणन की गई है। आमतौर पर देश की सामन्य धारा से संबद्ध होते हुए भी इनके अनेक रीति-रिवाज अब भी भिन्न है।

रमानाथ शर्मा- आदिवासी शब्द के तात्पर्य के बारे में लिखते हैं-"आदिवासी (Aboriginal) को वनवासी या जंगली (Forest-Dwellers), आदिम (Premitive) भी कहते हैं। भारतीय संविधान में इन्हें अनुसूचित जनजाति (Scheduled Tribes) कहकर संबोधित किया गया है।"[10]

'समाजशास्त्र विश्वकोश' में आदिवासी कि परिभाषा इस प्रकार दी है- "किसी देश-प्रदेश के वे लोग जो आदिकाल से वहाँ निवास कर रहें हैं, उन्हें उस देश-प्रदेश का आदिवासी कहा जाता है। आदिवासी उस देश-प्रदेश के मूल निवासी होते हैं।"[11]

'आदिवासी' शब्द के उक्त अर्थों के आधार पर कहना सही होगा कि आदिवासी याने 'किसी देश या प्रांत के वे निवासी जो बहुत पहले से वहाँ रहते आए हो।' और 'जिनके बाद और भी वहाँ आकर बसे हो' और 'किसी क्षेत्र के मूल निवासी' है तथा जिनके पहाड़ियों, जंगलों तथा दुर्गम प्रदेशों के वाशिंदे होने के कारण सारा जीवन अभावों में बिताना पड़ता है।

1.3.आदिवासी शब्द के समानांतर शब्द

'आदिवासी' शब्द के समकक्ष अनेक शब्दों का प्रयोग किया जाता रहा है जिस वजह से आदिवासी शब्द के अर्थ और अवधारणा को स्पष्ट करने में अनेक समस्याओं का सामना करना पड़ रहा है। गिरिजन,वनवासी,प्राचीन निवासी,अनुसूचित जनजाति ये शब्द एक सीमित अर्थ को व्यक्त करते हैं।

[10] भारत की जनजातियाँ, पृ.सं.90

[11] समाजशास्त्र विश्वकोश, पृ.सं.1

गिरिजन : इस शब्द का अभिप्राय यह है कि गिरि कुहरों में रहने वाला। इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि आदिवासी केवल पर्वत का निवासी है और उसका विस्तार अन्यत्र नहीं है।

वनवासी : इस शब्द का अभिप्राय यह है कि जंगल का निवासी। यह शब्द एकांगी अर्थ को ध्वनित करता है। अत: यह स्वीकृत नहीं हो सकता।

प्राचीन निवासी : इस शब्द का अभिप्राय यह है कि वह प्रजाति, जो किसी देश, क्षेत्र में प्राचीन समय से निवास करती रही हो। इस के लिए यह जरूरी नहीं है कि उसका आरम्भिक निवास क्षेत्र वही रहा हो। अत: यह शब्द भी इस रूप में पूर्णरूपेण 'आदिवासी' शब्द के अर्थ की अवधारणा को व्यक्त नहीं करता है।

अनुसूचित जनजाति : इस शब्द का अभिप्राय यह है कि यह एक संविधानिक शब्द है। जिन्हें भारत के राष्ट्रपति ने संविधन के अनुच्छेद 342 के अधीन अनुसूचित जनजातियों के तौर पर निर्दिष्ट किया है। जनजाति शब्द लैटिन 'Tribuz' के अंग्रेजी शब्द 'Tribal' के पर्याय के रूप में हिंदी में गढ़ा गया।

'आदिवासी' शब्द अंग्रेजी के Aboriginal (Indigenous) के पर्याय के रूप में मान्य और स्वीकृत है। आदिवासी शब्द अपने में इस अर्थ को व्यक्त करता है कि– देश विशेष का प्राचीनतम, आदिम या मूलनिवासी। आदिवासी अपनी भाषिक विशिष्टता, संस्कृति, प्रजाति एवं प्रकृति आधारित धर्म के कारण समाज की मुख्यधारा से अलग होता है। यही इसकी विशिष्टता भी है और अन्य समाजों से इसके अलगाव का कारण भी।

1.4.आदिवासी विमर्श की अपेक्षा

आदिवासी जातियों पर अगर विचार किया जाएं तो इसमें भारत के सभी आदिवासी आते हैं। आदिवासियों की अनेक-जातियाँ, उपजातियाँ मिलती हैं। सबकी संस्कृति, परंपराएँ और प्राकृतिक स्थितियों के अनुसार उन्हें एक समूह मानने में कठिनाइयाँ आती हैं। कुल

मिलाकर आदिवासियों को भारत का मूल निवासी कहा जा सकता है। पहले आदिवासीयों को दलितों में शामिल किया जाता था। आदिवासी साहित्य को दलित साहित्य ही माना जाता था। ये दो जातियाँ भी सर्वहारा या पिछड़ा जाति का प्रतिनिधित्व करती हैं। ये दो जातियाँ समाज से कटे हुए थीं। मगर आजादी के बाद दलित मुख्यधारा में मिल गए और आदिवासी मुख्यधारा से कटे रहे और आज भी अलग-थलग जीवन जी रहे हैं, इसलिए आज आदिवासी विमर्श तथा आदिवासी-चिंतन की आवश्यकता है।

'अरावली उदघोष'पत्रिका के संपादक बी.पी.वर्मा 'पथिक' अपने एक लेख 'आदिवासी विमर्श' की भूमिका में स्पष्ट करते हैं कि "बीसवीं शताब्दी की समाप्ति तक हिंदी पट्टी में केवल दलित-विमर्श और दलित-साहित्य का बोला बाला रहा था। कुछ अपवादों को छोड़ दें तो, तब न कहीं आदिवासी-विमर्श और आदिवासी-साहित्य का ज़िक्र होता था और न कभी इनकी आवश्यकता ही महसूस की जाती थी। चाहे गैर-आदिवासी साहित्यकार हो या दलित-साहित्यकार, अधिकांश ने यही भ्रम पाल रखा था कि दलित संज्ञा में आदिवासी का भी समावेश है।"[12]

कुसुम नारगोलकर के अनुसार- "अछुतों को-चाहे हिंदू-समाज के शूद्र-सेवक के रूप में ही क्यों न हो, किंतु एक विशिष्ट सामाजिक स्थान दिया गया था, परंतु आदिवासियों का श्रेष्ठ या कनिष्ठ ऐसा कोई स्थान नहीं था। वे उपेक्षित थे। हम मनुष्य हैं- यह अहसास ही आज तक उनमें पैदा नहीं हुआ है।"[13]

यह सत्य मान लेना होगा कि गाँव के बाहर जीते हुए भी गाँव के भीतर के जन-जीवन तथा व्यवहार से दलितों का संपर्क तथा संबंध किसी न किसी रूप में कायम ही था। आदिवासी-समूह गाँव के जीवन एवं उनके जीवन के प्रभाव-क्षेत्र से सैकड़ों योजन दूर था।

---

[12] 'अरावली उदघोष', पृ.सं.27

[13] आदिवासीः साहित्य यात्रा, पृ.सं.32

गाँव के भीतर सामाजिक और सांस्कृतिक व्यवहार के साथ दलितों का जैसा संबंध और संपर्क था, वैसा आदिवासियों का नहीं था।

इसके परिणामस्वरूप आदिवासियों के हिस्से में आए एकाकीपन से निश्चित रूप से कहीं अधिक थीं, इसलिए दलितों और आदिवासियों की जीवनशैली में जो लाक्षणिक अंतर है, वह सांस्कृतिक भिन्नता के कारण है, अनुभूति के निरालेपन के चलते है । दलितों तथा आदिवासियों में दिखाई देनेवाली भावात्मक दूरी का कारण उनकी मानसिकता में खोजना पड़ता है । उन दोनों के हिस्से में, जो अकेलापन-एकाकीपन है, उसका कारण भी उनकी स्वरूप भिन्नता तथा दोनों के जीवन-संघर्ष में खोजना पड़ता है।

इस संदर्भ में महाराष्ट्र के डॉ.शरदचंद्र गोखले ने जो कहा वह अत्यंत मार्मिक है-"दलित तथा आदिवासियों के आस-पास की सांस्कृतिक चौखट एवं वातावरण भिन्न है। आदिवासियों की संस्कृति की अपनी एक समृध्द चौखट है। उनकी संस्कृति में मिट्टी की सोंधी महक है। इस कारण आदिवासी-साहित्य दलित-साहित्य की नकल न बनकर, उसकी अपनी एक शैली तथा संरचना होनी चाहिए।"[14]

भारत विभिन्न जाति-जनजाति, धर्म-पंथों और संस्कृति-संप्रदायों का देश है । 'जाति-व्यवस्था' भारतीय समाज-व्यवस्था का प्राण-तत्व है। सैकड़ों वर्ष बीत गए पर वर्तमान समय में आदिवासियों को देखने का नजरिया जैसे-का-वैसा ही रहा है। जैसे- असुर, दानव, राक्षस, पिशाच तथा दैत्य ऐसे अनेक नामों से पहचाना जाता है। इतना ही नहीं अपने धार्मिक ग्रंथों में भी जैसे-रामायण, महाभारत। रामायण की भीलनी, शबरी तथा महाभारत का एकलव्य ये चरित्र भारतीय समाज-जीवन में सहानुभूति तथा आदर का हास्यास्पद दिखावा भर हैं।

1.5.आदिवासी साहित्य का स्वरुप

आदिवासी साहित्य प्रमुख रूप से वन-संस्कृति से संबंधित साहित्य है, यह दुर्लक्षितों का साहित्य है, आदिवासियों के प्रश्नों का अतीत में कभी उत्तर ही नहीं दिया गया है। मुख्यधारा

[14] वही, पृ.सं.33

की समाज-व्यवस्था ने आदिवासियों के आक्रोश पर कभी ध्यान नहीं दिया । आदिवासी-साहित्य जंगलों, पहाड़ों तथा गिरि-कंदराओं में रहनेवाले अन्यायग्रस्तों का क्रांति साहित्य है । इस कठोर तथा क्रूर न्याय-व्यवस्था ने इन आदिवासियों की सैकड़ों पीढ़ियों को आजीवन वनवास दिया । उस अन्याय, अत्याचार तथा कठोर न्याय-व्यवस्था से मुक्ति पाने के लिए लिखा गया साहित्य ही आदिवासी साहित्य है ।

आदिवासी एक निश्चित भू-भाग में अपनी विशिष्ट बोली बोलते हैं तथा संगठित रहते हैं । ये सभ्यता की दौड़ में पिछड़े हुए हैं और लिपिरहित भाषा-भाषी हैं । कुछ आदिवासियों की जातियाँ शहरी संस्कृति के संपर्क में आने से शहरों में जाकर मज़दूरी करके जीविकोपार्जन कर रही हैं । बहुत से आदिवासी जंगलों में, पहाड़ों में और दुर्गम प्रदेश में रहकर कबीलाई जीवनशैली अपनाए हुए हैं । सदियों से सभ्यता एवं संस्कृति से दूर होने के कारण ये पिछड़े हुए हैं । आदिवासी अनपढ़, अज्ञानी, अंधश्रद्धालु होने कारण अभावग्रस्त हैं । गरीबी, अज्ञान तथा सुख-सुविधाओं से वंचित होने कारण उनका जीवन बिमारियों से तथा कुपोषणग्रस्त हैं । जनजाति समाज का तात्पर्य सामाजिक एवं सांस्कृतिक एकरूपता से नहीं है । जनजातियाँ एक-दूसरे से अनेक अर्थों में विभिन्न होती हैं । सामाजिक, सांस्कृतिक एवं जनसंख्या के आधार पर इनकी विशेषताएँ अलग-अलग होती हैं । उदाहरण के लिए भारत की ही दो जनजातियाँ संथाल एवं अंडमान द्वीपवासियों को किसी प्रकार एक वर्ग में नहीं रखा जा सकता । इनकी सामाजिक एवं सांस्कृतिक संरचनाएँ बिल्कुल भिन्न हैं । "संविधान के एक आदेश सन् 1950 के एस.आर.ओ. 510 के द्वारा (आसाम की जनजातियों को छोड़कर) एक सौ साठ समूहों को अनुसूचित जनजातियाँ (Scheduled Tribes) घोषित किया गया है । सन् 1991 की जनसंख्या के आधार पर भारत में अनुसूचित जनजातियों की कुल जनसंख्या 6.78. करोड़ है ।"[15]

इस मान्यता से आदिवासी जनसंख्या तथा उसकी जनजातियों का पता चलता है । भारत में आंध्र प्रदेश, बिहार, झारखंड, राजस्थान, गुजरात, महाराष्ट्र, उत्तर प्रदेश, केरल,

[15] समाजशास्त्र विश्वकोश, पृ.सं.314

ओड़िसा, मध्य प्रदेश, पश्चिम बंगाल, हिमाचल प्रदेश, मैसूर, मणिपुर, और त्रिपुरा आदि क्षेत्रों में आदिवासी जनजातियाँ पायी जाती हैं।

प्रमुख भारतीय जनजातियाँ इस प्रकार मिलती हैं-1. संथाल-इनका मुख्य निवास बिहार का संथाल परगना है। ये पश्चिम बंगाल और अन्य क्षेत्रों में भी पाई जाती हैं। 2. भील-भारत की प्रमुख जनजातियों में से एक है । इनका प्रमुख केंद्र मध्य प्रदेश, महाराष्ट्र और राजस्थान है। 3. खस- उत्तर प्रदेश की महत्वपूर्ण जनजाति है। ये देहरादून जिले के जौनसर बाबर क्षेत्र में निवास करते हैं। 4. मन्नेरवारलु- महाराष्ट्र के नांदेड तथा अन्य जिलों में पायी जाती है। 5. थारू- उत्तर प्रदेश की प्रमुख जनजाति है। यह उत्तर प्रदेश के तराई क्षेत्र में फैले हुए हैं। 6. नागा- नागा क्षेत्र में रहते हैं। 7. हो- जनजाति बिहार व ओड़िसा में रहती है। आदिवासियों की अनेक जातियाँ कबीलाई जीवन शैली में अरण्यमुखी संस्कृति और उत्सवधर्मिता के कारण आर्थिक अभाव में कंगाल बनी हैं । यह अज्ञानी, अनपढ़ और अंधश्रद्धालु होने के कारण इनका समाज में चारों ओर से शोषण होता है।

इस संदर्भ में विनायक तुकाराम कहते हैं- "वनवासियों का क्षत जीवन, जिस संस्कृति के गोद में छुपा रहा, उसी संस्कृति के प्राचीन तथा अनुभव का शब्द रूप हैं।[16]
आदिवासी साहित्य दिन-ब-दिन विद्रोह का रूप लेते जा रहा है। क्योंकि वनवास से मुक्ति का यह नया संकल्प है। आदिवासी साहित्य के बहाने तो इन पीड़ाओं से मुक्ति की राह मिल रही है। आदिवासी-साहित्य से नव-निर्माण का स्वप्न बीज अंकुरित हो रहा है। " पहाड़ों की गोद में कंटीली झाड़ियों में, बस्ती-बस्ती में, जिनके जीवन का हर क्षण श्रृंखलाबध्द हुआ है, यह साहित्य ऐसे ही जंगलवासियों को मुक्ति की आशा दिलानेवाला है।"[17]

विगत दो दशकों में आदिवासी साहित्य प्रमुख रूप से उभरकर हमारे सामने आया। आदिवासी साहित्य यथा कविता, कहानी, उपन्यास, व्यंग्य आदि विधाओं के माध्यम से लगातार अभिव्यक्त हो रहा है । यह साहित्य मानवीय-मूल्यों, वंचितों और मानवीय-

[16] म.फूले वाङमय, पृ.सं.416

[17] आदिवासीः साहित्य यात्रा, पृ.सं.25

संवेदनाओं को उकेरने की एक नये ढंग से कोशिश करता है। जनजातिय साहित्य वर्णव्यवस्था, जातिवाद, अन्याय, शोषण आदि के मठों की धारणा को खंडित कर अभिव्यक्ति के खतरे उठा रहा है। यह साहित्य इतिहास की पुरातन धारणाओं, धर्मशास्त्रों की स्थापनाओं का खंडन करता दिखाई पड़ता है। वह शोषण, तिरस्कार एवं परंपराओं को खारिज कर मानवता को स्थापित करना चाहता है। इस संदर्भ में रमणिका गुप्ता कहती हैं- "जनजातिय साहित्य सामाजिक-रचना और एकात्म-जीवन का भी विचार रखने लगा है। इस साहित्य का सपना है कि आदिम समूहों में वर्ग-रहित, जाति-रहित समाज-व्यवस्था रची जाए, जो जीवनमूल्य आदिवासियों के थे ही नहीं, यह साहित्य उसे कभी नहीं स्वीकारेगा।[18]

आदिवासी साहित्य में आदिवासियों का भोगा हुआ यथार्थ और पीड़ा, आक्रोश के रूप में फूट रहा है। उसका सुषुप्त आत्मसम्मान जागने लगा है। वह समाज-व्यवस्था को चुनौती देता हुआ आश्वस्त है। संपूर्ण भारत के आदिवासियों की संवेदनाएँ, मूल्य, आदर्श, विषयवस्तु कमोवेश एक-सी है, अभिव्यक्ति पर भाषा बंधन नहीं हो सकता है। आदिवासी साहित्य में ऐसी पीड़ा-वेदना उपेक्षा की धुरी पर टिकी है, जो एक नई साहित्यिक विचारधारा का निर्माण करती है।

आदिवासी समाज में धार्मिक भावना अधिकतर दिखाई देती है। इन्होंने प्रकृतिवाद, आत्मा की अमरता, जीववाद, जादू-टोना और पुनर्जन्म में इनका अटूट विश्वास है। कुछ विद्वानों के अनुसार जन-जातिय धर्म की विशेषताओं में सबसे प्रमुख विशेषता जीववाद है। पूर्वजों की पूजा जीववाद का एक मुख्य तत्व है। भारत में संथाल, बंजारा और औराँव जन-जातियों में पितरों की आत्माओं की पूजा करने का रिवाज मिलता है। आदिवासी समाज में भूत-प्रेत के नाम पर जादू-टोना किया जाता है। नागा जन-जाति के लोगों में तथा निकोबार द्वीप समूह में लकड़ी की मूर्तियों पर मृत व्यक्ति की खोपड़ियाँ रख कर यह समझते हैं कि आत्मा खोपड़ी से निकल कर मूर्ति में आ जाती हैं। भील जन-जाति में पुनर्जन्म का विश्वास दिखाई देता है। आदिवासी सभ्य समाज प्रकृति के उपासक है। जन-जाति के लोग सूर्य-चंद्र की

[18] वही, पृ.सं.25

पूजा करते हैं, इसके साथ-साथ नदियाँ, पहाड़ों, पेड़-पौधे, जानवरों और नक्षत्रों की पूजा भी की जाती हैं। इस सभी प्रकार की साहित्यिक जानकारी हमें लोक साहित्य के द्वारा प्राप्त होती हैं।

लोक-कथाओं में आदिवासी साहित्य मिलता है, क्योंकि इसमें प्राकृतिक वस्तुओं, पशु-पक्षियों, पेड़-पौधों, जीवन-विधान, रीति-रिवाज और सृष्टि की अवधारणा आदि विषयों के बारे में मालूम पड़ता हैं। इस साहित्य में लोकवार्ता को मूल आधार के रूप में मान सकते हैं,क्योंकि लोकवार्ता में आदिवासी एवं जन-जाति की अवधारणा एवं विकास के बारे में कहा गया है। आदिम संस्कृति को समझने के लिए लोकवार्ता महत्वपूर्ण साधन है। आदिम कला सामाजिक कला है यद्यपि वह व्यक्ति को अनेक प्रकार से संतोष देती है। जन-जाति के समूह जिन वस्तुओं का प्रयोग करते हैं, उन वस्तुओं जैसे- बर्तन, हथियार, वस्त्रों आदि पर ही चित्रकला की कृतियाँ भी बनाई जाती हैं।

लोक-साहित्य में शिल्प-कला को महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त हैं। आदिवासी सभ्य-समाज में पत्थरों की चट्टानों, शिलाओं और लकड़ियों पर इन लोगों की आराध्य देवी-देवता, शक्तियाँ एवं शिकार की मूर्तियाँ दिखाई देती हैं। इन कलाओं के आधार से आदिम समाज की जानकारी प्राप्त होती है। इसके साथ नृत्य कला आदिम समाज में दिखाई देती है। नृत्य कला में स्त्री-पुरूष दोनों वर्ग की भागीदारी हैं। आदिम समाज में जन-जाति की दिलचस्पी संगीत में दिखाई देती है। उस समय संगीत का भी महत्वपूर्ण योगदान है। धार्मिक अवसरों पर संगीत को विशेष महत्व दिया गया है।

आदिवासी साहित्य का स्वरूप व्यापक है, चाहे कोरकु जनजाति पर लिखा साहित्य हो अथवा गोंड, भील, परधान, कोलाम, वारली, मन्नेरवारलु तथा कोली महादेव आदि या किसी भी अन्य जनजाति पर लिखा साहित्य हो, उन सबका समावेश आदिवासी साहित्य में है। संसार में जहाँ-जहाँ आदिम समूह रहते हैं, उनसे संबंधित सारा साहित्य आदिवासी साहित्य में समाविष्ट होगा। अभी तक अव्यक्त वेदना-संसार का दर्शन कराने वाला साहित्य है। आज का आदिवासी साहित्य नए जागरण का उषासूक्त है।

कहना न होगा कि आदिवासी लेखन अपने लोकसाहित्य को प्रस्तुत कर रहे हैं- किंवदंतियाँ, कथाएँ, लोककथाएँ सामने ला रहे हैं, नाटक लिख रहे हैं तो वे अपनी शौर्यगाथाओं की खोज में भी निकल पड़े हैं। संपादन क्षेत्र में भी आदिवासी लेखकों ने कमान संभाल ली है। इनकी मातृभाषाओं में पत्र-पत्रिकाएँ प्रकाशित होने लगी हैं। अकेले झारखंड राज्य में संताली भाषा में ही लगभग 146 पत्रिकाएँ प्रकाशित होती रही हैं। राजस्थान से निकलने वाली 'अरावली उद्घोष' जिससे प्रेरित होकर 'युध्दरत आम आदमी' ने आदिवासी रचनाओं के दो विशेषांक निकाले, अपने में एक महत्वपूर्ण पत्रिका है जो आज भारतीय आदिवासी लेखकों का प्रतिनिधित्व करती है।

यह साहित्य प्रासंगिक तो है ही, उपेक्षित जमातों के प्रति आज तक अनजाने में अथवा जानबूझकर अपने स्वार्थहित में बढ़ती जा रही उपेक्षा के प्रति तथाकथित मुख्यधारा में संवेदना पैदाकर मानसिकता बदलने का प्रयास भी करता है। हम और वे की दूरियों को पाटने का काम यही साहित्य कर रहा है। निर्मला पुतुल ने यदि झारखंड के आदिवासियों में पनप रहे रोष और पहचान के आंदोलन से प्रभावित होकर लिखा है, तो उसका असर आपके मन पर भी पड़ रहा है, आपके अंतर्मन में वे एक संवेदना जगाने में कामयाब हुई हैं और यही आदिवासी साहित्य की सफलता है।

उक्त विवेचन के आधार पर हम यह कह सकते हैं कि, अनेक रचनाकारों की कृतियों के माध्यम से आदिवासी साहित्य की प्राप्त जानकारी मिलती है। इस साहित्य की वजह से जन-जातियों की समस्याएँ उभर कर सामने आ रही हैं। जन-जाति के रचनाकार इस साहित्यिक रचनाओं के माध्यम से उनकी अस्तित्व की पहचान और समस्याओं को समाज के सामने रख रहे हैं। आदिवासी साहित्य को समझे बिना आदिवासियों को समझना असंभव हैं। आज आदिवासी रचनाकार उनके रचना में जन-जाति संस्कृति को आधार बनाकर उनकी रीति-रिवाज, वेश-भूषा, भाषा, विवाह, धर्म आदि को साहित्य के रूप में दिखा रहे हैं।

आदिवासी साहित्य धरती के उपर मानव उत्पत्ति से हम मान सकते हैं, क्योंकि उस समय मौखिक रूप में दिखाई देता है। प्राचीन काल में आदिवासी साहित्य के उपर दबाव भी

डाला गया है। काल की दृष्टि से बदलाव आया है। आधुनिक युग में शिक्षा अर्जन की वजह से इन लोगों के बीच चेतना पैदा हुई। आदिवासी अपने समाज के बारे में खुद रचना करने लगे। उनका जीवन-विधान, संस्कृति एवं समस्याओं को उसमें दिखाया है। आजकल आदिवासी जीवन के उपर अधिकतर रचनाएँ हो रही हैं। पढ़े -लिखे (सुशिक्षित) लोग आदिवासी रचना की ओर उत्सुकता दिखाने लगे हैं। इस साहित्य के माध्यम से जन-जाति के समूह में जागृत-भावना उत्पन्न हुई है। हर क्षेत्र में आदिवासी साहित्यिक स्वरूप का विकास क्रम बढ़ रहा है।

द्वितीय अध्याय

हिन्दी उपन्यासों में चित्रित आदिवासी-जीवन

2.1 पृष्ठभूमि

2.2 आज़ादी-पूर्व

2.3 आज़ादी पश्चात (1990 तक)

2.3.1 कचनार-वृन्दावनलाल वर्मा

2.3.2 धरती मेरा घर-रांगेय राघव

2.3.3 गाथा भोगनपुरी-किशोर कुमार सिन्हा

2.4 1990 से अद्यतन

2.4.1 जहाँ बाँस फूलते हैं-श्रीप्रकाश मिश्र

2.4.2 अल्मा कबूतरी-मैत्रेयी पुष्पा

2.4.3 काला पादरी-तेजिंदर

2.4.4 जो इतिहास में नहीं है-राकेश कुमार सिंह

2.4.5 धूणी तपे तीर-हरिराम मीणा

व्दितीय अध्याय

हिंदी उपन्यासों में चित्रित आदिवासी जीवन

2.1.पृष्ठभूमिः

हिंदी उपन्यासों में पिछले दो दशकों से आदिवासी चित्रण दिखाई दे रहा है। आजादी-पूर्व आदिवासियों पर केंद्रित उपन्यास लिखे गए पर बहुत ही कम। इन उपन्यासों का क्रम धीरे-धीरे बढ़ता गया। आदिवासी समाज का जीवन भीतर से जितना खुला हो, बाहरी लोगों को वह बंद समाज ही लगता है । उनके सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक, धार्मिक तथा सांस्कृतिक जीवन को अनुभव किए बिना उनका चित्रण नहीं हो पाएगा। हिंदी साहित्य जगत में विशेषतः नवें दशक से आदिवासी चित्रण होने लगा है । इससे पहले भी कुछ गिने-चुने उपन्यास लिखे गए।

आदिवासियों के जीवन का कोई सार्वभौमिक स्वरूप बताया नहीं जा सकता । इन आदिवासियों में कुछ प्रमुख समानताओं के बावजूद प्रत्येक आदिवासी के अपने-अपने नियम हैं, अपनी-अपनी संस्कृति हैं, अपनी-अपनी अर्थव्यवस्था तथा उनकी अपनी-अपनी धार्मिक मान्यताएँ हैं।

आदिवासी अपने पूर्वजों की परंपरा को अपनाते हुए चले आ रहे हैं। आदिवासियों में अनेक जनजातियाँ शामिल हैं। जैसे-गोंड, कबारा, कोरकू, उराँव, मुंडा, संथाल तथा कोलाम आदि। इन आदिवासियों के पहनावा-ओढ़ावा, उत्सव-त्योहार, रहन-सहन, गीत-संगीत, नृत्य, आहार तथा बोली समान नहीं है । इतना ही नहीं समाज-संगठन, जीवन-मृत्यु संस्कार, नामकरण, विवाह-पध्दति, संपत्ति के उत्तराधिकार के नियम, पूजा-विधि तथा

भगवानविषयक धारणा आदि में अंतर है, अपनी-अपनी निजी विशेषता है। इसी कारण हिंदी उपन्यासों में इन अनेकताओं का तथा विलक्षणताओं का समावेश हुआ है।

हिंदी उपन्यासों में चेतना का लेखन, जहाँ एक तरफ अपनी पीड़ा खुद कहने, अपने समाधान खुद ढूँढ़ने की चेष्टा है, वहीं आज प्रस्थापितों द्वारा अपनी संस्कृति को नष्ट करने, अपने संसाधनों पर कब्जा जमाने के षड्यंत्रों के बरक्स प्रतिरोध की चेतना से भी लैस है। यह आदिवासी साहित्य अपने संगठन की वजह से पिछले पाँच हजार वर्षों से जिंदा है।

आज आदिवासी साहित्य 90 भाषाओं में लिखा जा रहा है। यहाँ तक कि यह लेखन हिंदी में भी प्रचुर मात्रा में हो रहा है। इससे हिंदी भाषा न केवल समृध्द हुई है, बल्कि आदिवासी जीवन-शैली, समानता, भाईचारा और आजादी के सूत्रों को हिंदी पट्टी और हिंदी भाषी मानस ने भी कुछ हद तक ग्रहण किया है। ये हिंदी भाषी मानस में दृष्टिकोणात्मक बदलाव लाने में काफी सहायक हो रहा है। आदिवासी साहित्य-जीवन का साहित्य है। वह प्रकृति का सहयोगी-सह-अस्तित्व का अभ्यस्त, ऊँच-नीच, भेदभाव व छल-कपट से दूर है। वह जमाखोरी या संपत्ति जुटाने की भावना से मुक्त है। वह अन्याय का विरोधी और सामाजिक न्याय का पक्षधर है। उसके साहित्य में इन्हीं सब की अभिव्यक्ति है। जीवन की समस्यायें और प्रकृति से लगाव उसके साहित्य का आधार है।

2.2. आजादी-पूर्व

हिंदी उपन्यासों में आदिवासी चित्रण भारत के आजादी से पूर्व से ही दिखाई देता है। आजादी-पूर्व केवल एक-दो उपन्यासों के नाम गिनाये जा सकते हैं। आजादी के पहले हिंदी में पहला उपन्यास 1909 में रामचीज वल्लभ द्वारा लिखित 'वन विहंगिनी' है, इसे संथाल परगना के 'कोल' आदिवासी युवतियों के जीवन संघर्ष को केंद्र में रखकर लिखा गया है। दूसरा उपन्यास 1934 में रामदीन पांडे द्वारा लिखा गया 'कोरा कुमारी'है यह भी एक आदिवासी युवती को केंद्र में रखकर लिखा गया है। आजादी के पश्चात आदिवासी जीवन पर

अनेक महत्वपूर्ण उपन्यासों की रचना हुई, किंतु उन्हें आंचलिक उपन्यास कहा गया और उसी दृष्टि से आलोचना अथवा समीक्षाएँ लिखीं गई ।

2.3. आजादी-पश्चात् (1990 तक)

आजादी के पश्चात् हिंदी साहित्य जगत में आदिवासियों के जीवन पर अनेक महत्वपूर्ण उपन्यास लिखे गए हैं, परंतु आलोचकों ने इन उपन्यासों को अलग-अलग रूप दिए हैं । भारत में स्वतंत्रता के बाद जो महत्वपूर्ण उपन्यास लिखे गए उनमें से कुछेक का विवरण इस प्रकार हैं ।

2.3.1. कचनार- वृंदावनलाल वर्मा

वृंदावनलाल वर्मा कृत 'कचनार'1947 में प्रभात प्रकाशन दिल्ली से प्रकाशित हुआ था । इस उपन्यास के केंद्र में गोंडवाना प्रदेश के आदिवासी राजगोंड के शासन व्यवस्था तथा 18वीं सदी के अंतिम दशक के आस-पास का राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक वातावरण का चित्रण किया गया है । उपन्यास का आरंभ धामोनी के राजागोंडों के राव दलीपसिंह और उसे विवाह में दहेज के रूप में प्राप्त कचनार के प्रेम की कहानी है । गढ़ प्रमुख सागर को अपना राजा नहीं मानता था और नागपुर का भोंसला अपने झंझटों में घिरा हुआ रहता था । भोंसले द्वारा उसे रावसाहब उपाधि प्राप्त हुई थी । उपन्यास में दलीपसिंह के स्मृति लोप और अंत में उसकी पुनः प्राप्ति की कथा है, जिसका आधार प्रसिध्द भुवाल संन्यासी है । उपन्यास के प्रमुख पात्र हैं- दलीपसिंह अर्थात् सुमनपुरी, कचनार अर्थात् कंचनपुरी, मानसिंह, डरू अर्थात् डोरीसिंह और महंत अचलपुरी। अन्य महत्वपूर्ण पात्र हैं, कलावती मंटोलपुरी और मन्ना । गौण पात्रों में ललिता, नाधान, सोनेसाह, अमीर खाँ और बैजनाथ आते हैं ।

इस उपन्यास में इतिहास और परंपरा का भी चित्रण किया गया है । परंतु आज तक इस उपन्यास को पाठक तथा आलोचकों ने ऐतिहासिक उपन्यास की दृष्टि से ही देखा है । लेकिन यह आदिवासी उपन्यास है, क्योंकि इस में धामोनी रियासत के गोंड राजाओं के जीवन और

संस्कृति का सहज, सरल, स्वाभाविक और प्रमोदमय रूप प्रस्तुत किया है। लेखक उपन्यास के परिचय में लिखता है कि, "धामोनी राजगोंडों का था। मराठों और बुंदेलों के झगड़ों में से गोंडों ने हटते-हटते भी इसको खोया और पाया। यह क्रम कई बार घटित हुआ। आजकल के भारतीय राजनीतिक विकास में गोंड कोई विशेष भाग लेते हुए नहीं जान पड़ते, यद्यपि मध्यभाग में उनके कई राज्य हैं, परंतु एक समय वे अपने सहज, सरल, स्वाभाविक और प्रमोदमय जीवन द्वारा भारतीय संस्कृति को अपने दृढ़ और पुष्ट हाथों की अंजलियाँ भेंट किया करते थे।"[19]

उपन्यास पढ़ते हुए गोंड शब्द सुनते ही पहाड़, जंगलों तथा काननों में जीवन यापन करने वाले मानव समूह की आकृति स्मरण में आती है। कारण यह है कि इस उपन्यास के संदर्भ में लिखी गई समीक्षा, आलोचना में या कहीं पर भी आदिवासी शब्द का प्रयोग नहीं किया गया है। इससे पाठक दुविधा में है।

लेखक ने उपन्यास लिखने से पहले कथानक के इतिहास को गहराई से जानने के लिए अनेक ग्रंथों का अध्ययन किया है। उपन्यास की भूमिका में वे कहते हैं- "उसी समय श्री एलविन 'फोकसाँग्स आँफ दि मेखल रेंज' और नागपूर से सरकार द्वारा प्रकाशित 'दि राजगोंड्स' पुस्तकें हाथ आ गई।"[20]

इसी आधार पर लेखक उपन्यास में गोंडों के शारीरिक लक्षणों का उल्लेख करते हैं। मुख्यतः स्त्रियों का परिचय देते हुए उनके शारीरिक गठन का तथा रूप-रंग का उल्लेख इस प्रकार किया किया है- "एक सहेली खरे गोरे रंग की और बहुत सुंदर। दूसरी जरा सांवले रंग

[19] कचनार, पृ.सं.6

[20] वही, पृ.सं.6

की, आँखें बड़ी परंतु नाक कुछ चपटी, नथुने फूले हुए। दोनों खटोलिया गोंड।"[21] इस कथन से जाहिर होता है कि, उपन्यास लिखने से पहले लेखक ने गोंडों के जीवन तथा उनके राज्य के ऐतिहासिक, भौगोलिक परिवेश को जानने तथा गहराई से परखने में कोई गलती नहीं की। इन्हीं ग्रंथों में उनके शारीरिक लक्षणों का उल्लेख मिला जिसे वे अपनी रचना कौशल से राज गोंड स्त्रियों के शारीरिक रूप-रेखा को यथा रूप में कह सके। उपन्यास में गोंडों के जीवन से जुड़े अनेक सांस्कृतिक पक्षों का उल्लेख किया गया है।

2.3.2. धरती मेरा घर- रांगेय राघव

रांगेय राघव कृत 'धरती मेरा घर' यह उपन्यास आदिवासियों की जीवन गाथा है। इस उपन्यास में लेखक ने वैर नामक गाँव एवं उसके सानिध्य में रहनेवाले लोहपीटों को उपन्यास का आधार बनाया है। इनका अत्यंत महत्वपूर्ण तथा प्रतिष्ठित आदिवासी उपन्यास 'कब तक पुकारूं' का कथानक भी इसी अंचल पर आधारित है।

'कब तक पुकारूं' में नटों के जीवन को लेकर उपन्यास की रचना की गई है और इस उपन्यास में लोहपीटों के जीवन को लेकर। दोनों जातियां खानबदोश, उपेक्षित एवं शोषित है। भारत की स्वाधीनता के बाद साहित्यकार की दृष्टि का इन पर पड़ना स्वाभाविक ही कहा जा सकता है। रांगेय राघव ने एक समाजशास्त्री के नाते इन लोगों के जीवन का न केवल सूक्ष्म निरूपण किया है, बल्कि एक उपन्यास के नाते इनसे आत्मीय संबंध भी स्थापित किया है।

लेखक ने वैर गाँव का परिचय देते हुए लिखा है- "बड़ा गाँव था। चारों ओर कच्चा गढ़ था। घुसते ही किल्ला दिखता था। बगल में नहर थी।..... कभी-कभार अंग्रेज दीवान आता

[21] वही, पृ.सं.12

था, इस लिए डाक बंगले की रौनक देखने लायक थीं । सामने बाग लगा हुआ था । पीछे हनुमान जी के पुराने मंदिर के पास कनेर बगहरा के पौधे थे । नौलक्की भी काफी घना था ।"[22]

आजादी के पूर्व यहाँ रहनेवालों की विशेषताओं का वर्णन करते हुए उपन्यास का पात्र प्रो. शर्मा कहते हैं- "स्त्रियाँ अपने बालों को सिर पर उलटे जूड़े के रूप में बांधे थीं । मुझे लगा जैसे हड़प्पा-मोहन-जो दड़ो कालीन कोई पुरानी सज्जा थी । यूरोप की दौड़ और गाँव की गतिहीनता कैसी थीं । और एक ही समय दोनों मौजूद हैं । यहाँ शिक्षा नहीं,न उसकी कोई आवश्यकता है । मजबूरी, गरीबी, पैसा होने पर उसका प्रयोग न जानना, ऐसे ही कितनी बातें हैं जो इनके जीवन में समा गयी हैं ।"[23]

इस उपन्यास में लेखक ने अनेक समस्याओं को उभारा है और उनके दुष्परिणामों की ओर संकेत किया है । गाँव की सबसे विकट समस्या जातिवाद की है । ऐसा प्रतीत होता है जैसे गाँव की आत्मा जातिय आधार पर विभक्त है, खंडित है । जातियों के आधार पर बने ये गुट सदैव एक-दूसरे को नीचा दिखाने और अपने अधिकार-क्षेत्र तथा शक्ति को बढ़ाने का प्रयत्न करते रहते हैं । उनका दृष्टिकोण सीमित और घृणित है । व्यापक दृष्टिकोण का पूर्ण अभाव भारतीय ग्रामीण-समाज की सबसे बड़ी विडंबना है । स्वतंत्रता के पूर्व जिस जाति-भेद का विरोध होता था, स्वतंत्रता के पश्चात उसे पुनः प्रोत्साहन मिलने लगा । जातियों के आधार पर ही आज चुनावों के परिणामों को आंका जाता है ।

प्रस्तुत उपन्यास में लोहपीटों के जीवन पर पर्याप्त प्रकाश डाला गया है । अपनी जाति की गतिविधियों को व्यक्त करती हुई लाली ने अपने पुत्र कृष्ण प्रसाद से कहा-"हम घर में नहीं

---

[22] धरती मेरा घर, पृ.सं.6,7

[23] वही, पृ.सं.17

रहते, हम जमीन नहीं जोतते, हम टिक कर नहीं रह सकते। गाड़ी हमारा संसार है। हम लोहे छेद नहीं करते। हम रस्सी से कुएँ में से पानी नहीं निकालते।"[24]

इस उपन्यास में मोती अपने आपको ठाकुर की संतान मानता है। उसमें स्वाभिमान की भावना कूट-कूट कर भरी हुई है। जमींदार साहब के व्दारा पुलिस को धमकी दिये जाने पर वह कहने लगा-"तो क्या कर लोगे हम भी तो ठाकुर हैं। चोरी का माल नहीं टिकता बाबूजी। जुबान सँभाल कर बोलो। दो सौ गाड़ियाँ खड़ी हैं। एक इशारा कर दूँ तो अभी सारी पुलिस धरी रह जाएगी। हम गाँव-गाँव डोलते हैं। .... तुम्हारी तरह हम लोग डोंगी नहीं हैं।"[25]

इस उपन्यास के माध्यम से रांगेय राघव ने आदिवासी जीवन की अनेक समस्याओं को उजागर किया है। भारतीय शासकों की शोषण की प्रवृत्ति को प्रतिबंध करने कि कोशिश की है। उपन्यास में चित्रित आदिवासी जीवन प्रमुख रूप से दिखाई देता है।

2.3.3.गाथा भोगनपुरी- किशोर कुमार सिन्हा

'गाथा भोगनपुरी' किशोर कुमार सिन्हा का पहला उपन्यास है, जो वाणी प्रकाशन, दिल्ली से 1986 में प्रकाशित हुआ। इसमें उत्तर प्रदेश के बुंदेलखंड से संबंधित एक कोल आदिवासी बंधुआ मजदूर की कहानी है। इस उपन्यास को हिंदी उपन्यासों में काफी प्रसिध्दि प्राप्त हुई।

उपन्यास के केंद्र में आदिवासी बंधुआ मजदूर बँगडू की कहानी है। साहूकार से अपने बाप-दादा व्दारा लिए गये, कर्ज चुकाने के लिए वह बचपन से काम कर रहा है। उसकी पत्नी रमई भी उसी घर में काम कर रही है। उसे खुद को ही पता नहीं है कि वह साहूकार के यहाँ क्यों काम करता है। वह यह मानता है कि उसके बाप-दादा ने इसी साहूकार के बाप, दादाओं

[24] वही, पृ.सं.125

[25] वही, पृ.सं.156

के पास काम किये थे, और उसे भी वही करना है। इस उपन्यास में बंधुआ मजदुरी को हटाने तथा उसके पुनर्वास के संदर्भ में बनाई गयी योजनाओं के असफल होने का चित्रण है।

'गाथा भोगनपुरी' जिसे लघु उपन्यास, लंबी कहानी, रिपोर्ताज या विस्तृत रपट कह सकते हैं। कहने को तो यह लेखक का पहला उपन्यास है लेकिन इसकी सामाजिक और राजनैतिक अंतर्दृष्टियाँ उसके निजी और गहरे व्यक्तिगत अनुभवों की गवाही देती हैं। इसमें एक ऐसे युवा प्रशासनिक अधिकारी की कथा है जो अपने आस-पास के मजदूरों और आदिवासियों को अन्याय से पिसते, शोषित होते देखता है और उनका पक्ष लेने की जोखिम भरी भूल कर बैठता है। उपन्यास जिस चरमोत्कर्ष पर आकर समाप्त होता है उसमें हताशा या कुण्ठा नहीं है, बल्कि हमारे समय की त्रासद सच्चाई का एहसास है। इस कृति की सबसे बड़ी शक्ति यह है कि- भावुकता, दया, करुणा की बैसाखियों का सहारा नहीं लेती। यह वास्तविकता का बयान ठेठ भाषा में करती है। इसे एक अफसर के प्रतिवेदन के रूप में भी पढ़ा जा सकता है।

'गाथा भोगनपुरी' हिंदी उपन्यासों की तुलना में छोटा उपन्यास है किंतु इसमें पहली बार हमारे समाज में फैली सामाजिक अवस्था और राजनीति को अंतर्दृष्टि के स्तर से देखा गया है। यह उपन्यास उत्तर प्रदेश के बुंदेलखंड से संबंधित आदिवासी बंधुआ मजदूरों तथा उनके प्रति सहानुभूति प्रकट कर उनका पक्ष लेने वाले युवा प्रशासनिक की भी कहानी है।

2.4. 1990 से अद्यतन

1990 से हिंदी उपन्यासों में आदिवासी जीवन को विमर्श का विषय बनाने वाले रचनाकारों में मनमोहन पाठक (गगन घटा,घहरानी), संजीव (जंगल जहाँ शुरू होता है, पैर तले की दूब), मैत्रेयी पुष्पा (अल्मा कबूतरी), तेजिंदर (काला पादरी), पुन्नी सिंह (सहरांत), श्री प्रकाश मिश्र (जहाँ बाँस फूलते हैं), भगवानदास मोरवाल (काला पहाड़), राकेश कुमार सिंह (जो इतिहास में नहीं है, पठार पर कोहरा), हरिराम मीणा (धूणी तपे तीर) आदि का योगदान उल्लेखनीय मानना होगा।

आजादी के साठ साल बाद भी असभ्य, अपराधी, घुमंतू और अभावग्रस्त जीवन जीने के लिए अभिशप्त आदिवासी समाज को औपन्यासिक विमर्श का विषय बनना अपने आप में महत्वपूर्ण घटना माननी होगी। यह सच है कि पहाड़ी प्रदेशों तथा घने जंगलों को काटकर जो सिमेंट, कँक्रीट के शानदार बंगले, बड़े-बड़े फ्लैट और तारांकित होटलों का निर्माण होने लगा लेकिन यह प्रकृति प्रदत्त आदिवासी जीवन की कुर्बानी देकर। आदिवासी जनजातियों को उपन्यास के विमर्श का विषय बनाने के मूल में ये सारी चेतनाएँ आधारभूत हैं और चिंताएँ भी। उक्त उपन्यासों में से कुछ उपन्यासों को प्रस्तुत किया जा रहा है।

2.4.1.जहाँ बाँस फूलते हैं- श्रीप्रकाश मिश्र

पुलिस, प्रशासन और सरकारी व्यवस्था ने आदिवासी समाज को विद्रोह और संघर्ष के लिए विवश किया है, अपने अन्याय, अत्याचार एवं दमनकारी व्यवहार से। फलतः आदिवासियों में ऐसी व्यवस्था के विरूद्ध चेतना जागृति हुई। इसका परिणाम उनके संघर्ष के लिए खड़े होने में हुआ, विद्रोही बनकर व्यवस्था के परिवर्तन की प्रबल कामना में हुआ। आदिवासी विमर्श विषयक वर्तमान हिंदी उपन्यासों में इसका खूब चित्रण मिलता है। श्री प्रकाश मिश्र के 'जहाँ बाँस फूलते हैं' उपन्यास के उस लालडेडा में आदिवासी समाज को विद्रोही बनाने की ओर अपने सोये हुए स्वाभिमान को चेताने की दृष्टि लक्षित होती है जो असम रायफल्स में पच्चीस-वर्षों तक हवलदार क्लर्क रह चुका था। जब बेवजह डाका डालने का मुकदमा दायर कर पुलिस आदिवासियों की खोज में निकलती है तो लालडेडा को खोजता है। आदिवासी को जंगली मानकर उनके साथ जानवर जैसा व्यवहार करनेवाली पुलिस तथा सरकार को जंगली बनकर जूतों की भाषा में ही जवाब देना ज़रूरी समझते हुए लालडेडा कहता है- "भाई ! निहुरे-निहुरे अपना हक नहीं पाया जा सकता। चाल्हिया की सरकार हमें जंगली समझती है। अपने जूता के नीचे दबाकर रखती है। हमें भी जूता की भाषा में बात करनी होगी और पूरा जंगली बनकर दिखाना हो। "[26]

[26] उपन्यास का समाजशास्त्र, पृ.सं2.73

उपन्यास में उत्तर-पूर्व की मिजो-जनजाति के अस्तित्व, स्वतंत्रता एवं अस्मिता व आर्थिक शोषण के सवालों की भारतीय राजनीति और समाज की मुख्यधारा से टकराहट का यह उपन्यास है । यह उपन्यास मिजो समाज तथा इनके भू-भाग को विस्तारित करती है तिब्बत, बर्मा तथा तत्कालीन पूर्वी बंगाल तक है ।

'जहाँ बाँस फूलते हैं' मिजोरम के ईसाई विद्रोहियों की गाथा है; जो शेष भारत से पृथक् अपना स्वतंत्र राज्य स्थापित करना चाहते हैं । जिनका नेता लालडेडा है, इतिहास का यह तथ्य सर्व विदित है, स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद से भारत-सरकार की यह नीति रही है कि पूरा देश एक सूत्र में बंधे। "हम जब ईसाई हुए तो तमाम परंपराओं को छोड़ दिए । फिर इसे निभाने की क्या जरूरत है? और फिर यह ईसाईयत के खिलाफ है । देयर इज ओनली वन गाड । एण्ड दैट गाड एम आई । टेन कामाण्डमेंट्स के अनुसार दूसरा खुदा बनाना 'ब्लासफेमी' है ।"[27]

पूर्वोत्तर भारत की समस्त जन-जातियाँ भी राष्ट्र की मुख्यधारा से जुड़े । इसके लिए जहाँ कल्याणकारी योजनाओं को प्रारंभ किया गया, स्थानीय जनता की इच्छाओं-अभिलाषाओं की पूर्ति एवं प्रादेशिक विकास हेतु छोटे-छोटे जिलों का निर्माण किया गया, वह दूसरी ओर सशस्त्र सेना द्वारा पृथकवादी शक्तियों को परास्त करने की मुहिम भी छेड़ी गई । लालडेडा ने विदेश में रह कर विद्रोह का संचालन किया । भारत की क्षेत्रीय अखंडता तोड़ने का षड्यंत्र रचने वालों की मदद से मिजोरम को आज़ाद करने की लड़ाई काफ़ी लंबी चली ।

"हमारे जवानों को फौज में नौकरी दी। फिर 1932 के गोलमेज कांफ्रेंस में जब हिंदुस्तान को एक संघ राज्य बनने की बात उठी तो हम लुशाइयों को गुलाम बनाने की साजिश से बचाने के लिए पादरी कैम्पबेल ने ब्रितानिया के राजा से दरख्वास्त किया कि नगा

[27] जहाँ बास फूलते हैं, पृ.सं.88

व लुशाई हिल्स को आजाद रखा जाय। फिर 1944 में सुभाष चंद्र बोस की आजाद हिंद फौज इधर से गुजरी तो नागा हिल्स आजाद हो गए। अंग्रेज नाम मात्र का शासन भी खत्म हो गया। उसने अपने मन से भारतीय गणराज्य में रहने की स्वीकृति ही न दी, तो भारतवर्ष का अंग कैसे बन गया? सब बकवास है। हमें गुलाम बनाए रखने के लिए दिल्ली के शासकों ने यह जालिम दुराभिसंधि रची है। हमें अपनी आजादी के लिए नए सिरे से लड़ना है ....।"[28]

आज भी उत्तर-पूर्व भारत में भारतीयता और भारतीय परंराओं के विरुध्द प्रचार जारी है। जिसका अनेक मोर्चों पर सामना किया जा रहा है। 'जहाँ बाँस फूलते हैं' के इस मिजो समाज में "भूख का मारा मिजो वर्षों तक इंतजार करता, फिर जंगल को साफ कर धान लगा जाता था। फसल जब तैयार होने को होती थी तब अपना झोंपड़ा बना जाता था। फिर एक दिन रात को इलाके के पुराने जमींदार.... अपने साथियों के साथ आ धमकाते, इनके घरों को उजाड़ फसल काटकर ले जाता और खेती लायक जमीन दो-चार साल के लिए कब्ज़ा कर लेते।"[29]

श्रीप्रकाश मिश्र मिजो जाति के अलगाव व विद्रोह की औपन्यासिक कथा को मात्र राजनीतिक रूप से ही नही संदर्भित करते, बल्कि इसके सांस्कृतिक व जन- पक्षधर रूप को उजागर करते हैं। वे मिजो समाज के बहिरंग पर ही ध्यान न केंद्रित करके इसके अंतरंग को भी अनावृत्त करते हैं। यहाँ शेर-भालू, कुत्ते-बिल्ली के शिकार व भोजन से लेकर जिंदा मुर्गों को खौलते पानी में उबालकर बने पेय, जिंदा भुने कुत्ते के पेट में सुअर की चर्बी के साथ सलाखों की गर्मी से पके चावलों का खाद्यान्न है। युवक- युवतियों के बीच ऐसे वर्जनाहीन

[28] वही, पृ.सं.139

[29] वही, पृ.सं.75

संबंध हैं कि कोई त्लंगवाल (युवक) किसी नुला (युवती) को बहन नहीं कहता और "कंधे पर मर्द का हाथ क्वाँरी लड़की के लिए बड़ा सम्मानजनक माना जाता है।"[30]

यह सही है कि अब आदिवासी-पहाड़ी-जंगली समाज को शोषण तथा दमन से मुक्ति दिलाने का रास्ता संघर्ष ही है। 'जहाँ बाँस फूलते हैं' उपन्यास में 'मिजो यूनियन' के नेता बोई छुआ का जब गांधीवादी रीति से लोगों समझाने लगते हैं- "आप शांत रहे। यह सरकार जाने क्यों भूखे लोगों को घोड़िया पुलिस का भय दिखाती है। जब आदमी को खाने के लिए अन्न नहीं मिलता नहीं मिलता है, तब इन जानवरों को खिला-खिलाकर मोटा बनाने के लिए धन कहाँ से आता है.....।"[31]

जनतंत्र की 'राष्ट्रीय' समझ को मिजो परिप्रेक्ष्य प्रदान करते हुए विद्रोही भूचेंगा का तर्क है कि जनतंत्र व जेसू का नाम विरोधी शब्द है। "तुम आर्यों का राज्य हम मंगोलों पर है। अपने यहाँ नीग्रो को दबा रहे हो। और ऊपर से नकली ही सही ड़िमोक्रेटिक सोशलिज्म लाद रहे हो।.... अपनी कौम के हर प्राण के बूते पर हमारा बच्चा-बच्चा भारत से अलग रहना चाहता है।"[32]

डॉ. महेंद्र भटनागर के अनुसार "उपन्यास में किसी एक परिवार की कथा नियोजित नहीं होती है। वह तो एक संपूर्ण जन-जाति की गाथा है। उसमें मिजो-विद्रोह का एक क्रमिक वितरण है जो मिजोरम को शेष भारत से पृथक रखने का षड्यंत्र इस उपन्यास में आकार विस्तार लेता है।"[33]

विद्रोह का रूप इस तरह से है कि मिजोरम में भयंकर अकाल पड़ता है। धर्म की घुट्टी पिये हुए मिजोरम के लोग भारत सरकार के विरुध्द सशस्त्र विद्रोह के लिए संगठित होते हैं।

---

[30] वही, पृ.सं.298
[31] वही, पृ.सं.146
[32] वही, पृ.सं.212
[33] अक्षरा, पृ.सं.107

लगता है, मिजोरम की पूरी कौम एक भटकी हुई कौम है, वह शेष भारत से पूरी कटी हुई है। शेष भारत से मिजोरम के आम आदमी का संपर्क नहीं के बराबर है।

प्रस्तुत उपन्यास ऐतिहासिक न होते हुए भी इतिहास से संबध्द है। तमाम घटना चक्र इतिहास सम्मत है। उसमें कल्पना के लिए कोई स्थान नहीं। इस तरह 'जहाँ बाँस फूलते हैं' उपन्यास मिजो आदिवासियों का जीवन-चित्रण कर उनके समस्याओं को उजागर करने की कोशिश श्रीप्रकाश मिश्र ने की है।

1.4.2. अल्मा कबूतरी-मैत्रेयी पुष्पा

अल्मा कबूतरी के केंद्र में खानाबदोश जनजाति की जीवन गाथा है। 'कबूतरा' जनजाति खानाबदोश है लेकिन इसे लेकर जो परिधि बनती है उसके भीतर आज के उत्तर भारतीय जन-जीवन और राजनीति के यथार्थ का एक बड़ा हिस्सा आता है।

कहानी कदमा बाई से शुरू होती है। कबूतरा जनजाति की खूबसूरत लड़की कदमा बाई अपने रिवाजों के अनुसार सयानी होते ही, उसे जंगलिया से ब्याह दिया जाता है। कबूतरा खानाबदोश जनजाति है जिनके गांव नहीं, डेरे होते हैं। खानाबदोशी धीरे-धीरे छूट रही है और ये लोग एक ही जगह रहने के अभ्यस्त होने लगे हैं। इनके नाम मडरोरा खुर्द की वोटर लिस्ट में भी आ गए हैं। इसी लोभ में बस्ती के मंसाराम इन लोगों के बीच आना-जाना शुरू करते हैं। उसकी नजर इन लोगों के वोट पर है। इनकी बदौलत अपने प्रतिद्वंद्वी लल्लूराजा को प्रधानी के चुनाव में हराने का गणित बैठाते हैं। कबूतरा लोग मंसाराम की ही जमीन पर बसे हुए हैं उनके रहमोकरम पर, इस लिए उनके बीच इनका अपने तरीके से रौब भी है। कबूतरा लोगों के बीच जाने पर मंसाराम की नज़र कदमाबाई पर पड़ती है। खूबसूरत जवान कदमाबाई उनके दिल में बैठ जाती है।

कबूतरा लोगों का मुख्य काम है-चोरी करना। स्त्रियां शराब पिलाती है और धंधा करती है। थाना-पुलिस हर दम इन्हें परेशान किये रहता है। पुरूष प्रायः जंगलों में भागे रहते हैं। चोरी-छिपे ही वे अपने डेरों में आते हैं। मंसाराम षड्यंत्र करता है। कदमा बाई अपने

पति जंगलिया के लिए फसल भरे खेत में आती है, मंसाराम मदहोशी में उसके साथ संभोग करता है। लगभग इसी समय जंगलिया थाने में मारा जाता है। कदमा बाई गर्भधारण करती है। वह मंसाराम से घृणा करते हुए भी अपने गर्भ से खिलवाड़ नहीं करती। मां बनती है। उसका बेटा होता है। नाम रखती है-राणा। कबूतरा लोगों को विश्वास है कि राणा प्रताप उनकी ही जात-जमात के थे।

मंसाराम और कदमा बाई दो अलग दुनिया के वासी हैं। दोनों एक-दूसरे से मुक्त होना चाहते हैं, लेकिन नहीं होते हैं। राणा उनके बीच एक डोर की तरह है। राणा से अपने लगाव को मंसाराम छुपा नहीं पाता। नतीजतन अपने घर में बड़े बेटे जोधा से अपमानित होते रहते हैं। छोटा बेटा करण, अपने पिता और मित्र राणा का हम दर्द है।

राणा को उसकी माँ और अन्य कबूतरा लोग अपराध करने के लिए उकसाते हैं, मगर राणा को उत्साह नहीं होता, वह पढ़ना चाहता है। स्कूल में प्रवेश तो किसी तरह मिल जाता है, लेकिन उसे बार-बार अपमानित होना पड़ता है अपनी जाति को लेकर। वह नल नहीं छू सकता, बच्चों के साथ हेल-मेल नहीं रख सकता। उसकी भारी मुसीबत है। इतने पर भी वह पढ़ाई नहीं छोड़ता। मंसाराम की ब्याही बीवी आनंदी उस पर अपने कुत्ते को छोड़ देती है, जब वह स्कूल से लौट रहा होता है। इस हादसे में राणा बुरी तरह घायल होता है, तबसे राणा स्कूल छोड़ देता है।

उसे उस रामसिंह के पास भेजा जाता है, जो कबूतरा जाति का एकमात्र पढ़ा-लिखा आदमी है और मास्टर है। रामसिंह पढ़ाई-लिखाई की बात करता है। वह उस भूरी बाई का बेटा है जो स्वप्नदर्शी थी। उसी ने रामसिंह और कबूतरा लोगों को अपना इतिहास बतलाया था। उस इतिहास को सुव्यवस्थित ढंग से रामसिंह जानते थे। जिस-तिस रूप में कदमा बाई भी जानती थी। इस इतिहास का बिरवा उसने राणा के मन में भी बो दिया था। रामसिंह के यहां आने के बाद राणा को अनुकूल माहौल मिलता है। यहीं आकार उसे अपना पूरा इतिहास

भी मालूम होता है । मां का लगाया हुआ बिरवा लहलहा उठाता है । राणा प्रताप, राणी पद्मिनी सब उसके इर्द-गिर्द घूमने लगते हैं । पद्मिनी की कथा को वह चाव से सुनता है और रामसिंह की बेटी अल्मा में उसे तलाशता है ।

रामसिंह की मास्टरी छुट जाती है, क्योंकि लोग उसे मास्टर के रूप में नहीं, कबूतरा के रूप में ही देखते हैं । रामसिंह अब क्या करें। उसने कोई कसर नहीं छोड़ी है, कज्जा बने रहने की । थाने पर दयनीय भी बना, तय हुआ कि वेतन का आधा थाने को दो, देने लगा,लेकिन कभी-कभार देर हो जाती हज़ार तरह की घरेलू कठिनाइयां । कभी बीमारी, कभी बीवी का मां बनना । थानेदार नहीं मानता। चाहे जैसे दो, दो । सब कुछ छोड़कर रामसिंह थाने का दलाल बनता है और अंततः मारा जाता है । अल्मा ऐसे सूरजभान के यहां से धीरज की मदद से भागती है । सूरजभान के कैदखाने से भागी अल्मा पहुँचती है डाकू श्रीराम के मंत्री निवास में जो अब डाकू श्रीराम की जगह श्रीराम शास्त्री मंत्री, समाज कल्याण हैं । रामसिंह की बेटी श्रीराम शास्त्री की बीवी बनकर अल्मा शास्त्री बनती है और उपन्यास के आखिर में पति की हत्या हो जाने पर बबीना विधान सभा सीट के लिए सत्तारूढ़ पार्टी की संभावित उम्मीदवार है । इस उपन्यास में मैत्रेयी पुष्पा ने प्रमुख रूप से आदिवासियों के जीवन को उजागर करने का प्रयास किया है ।

1.4.3. काला पादरी- तेजिंदर

उपन्यासकार तेजिंदर कृत 'काला पादरी' यथार्थ के एक अनजाने दुर्गम इलाके की अंतर्यात्रा का अनूठा और पहला प्रामाणिक उत्तर-आधुनिक साक्ष्य है । इस उपन्यास में आदिवासियों की आर्थिक और सामाजिक स्थितियों में धर्म के हस्तक्षेप और उसकी सार्थकता को जाँचने का सफल और मानवीय प्रयास है । धर्म जब अपने मापदंडों को बल्कि अपने विश्वासों की खास जीवनशैली को मनुष्य की अस्मिता से ऊपर मान बैठता है, तो विभिन्न धार्मिक विश्वासों के सह-अस्तित्व की अवधारणा ही खतरे में पड़ जाती है । प्रश्न उठता है कि

अपने धार्मिक अनुयायियों की संख्या बढ़ाने का औचित्य क्या है? मौजूदा राजनीति और पार्टियाँ इस खोखले प्रश्न को अनदेखा कर मनुष्य मात्र के कल्याण और हित पर विचार करने के बजाय, इसी कुप्रवृत्ति को वोट हथियाने का कारगर हथियार मान बैठी हैं।

उपन्यासकार तेजिंदर इन तथ्यों की सत्यता को उपन्यास की यथार्थपरक जमीन पर पटक कर, इन्हीं के कथ्यों और कृत्यों का कटघरा बना देते हैं। इस उपन्यास में तेजिंदर ने मध्यप्रदेश के गहन आदिवासी क्षेत्रों में घटित होती घटनाओं और जंगलों के पार सांस लेते जीवन का इतना विवरणात्मक, संवेदनशील एवं सूक्ष्म आकलन किया है जो समकालीन कथा साहित्य की एक विरल उपलब्धि है।

उपन्यास के केंद्र में अंबिकापुर का आदिवासी बहुल क्षेत्र है। इस उपन्यास का नैरेटर आदित्य बँक पोस्टिंग पर अंबिकापुर गया है। आदित्य की पहली मुलाकात जेम्स खाखा यानी 'काला पादरी' से होती है। जो मूल रूप से आदिवासी है। उसके दादा और पिता ने ईसाई धर्म अपना लिया था। उसकी धर्मविश्वासी तथा धर्मभीरू इच्छा और प्रयासों से वह स्थानीय पादरी हो गया है। पूरा उपन्यास जेम्स खाखा के अंतर्द्वन्द्वों पर आधारित है। क्षितिज शर्मा के अनुसार- "जेम्स खाखा भीतरी धर्म को या धर्म के मौजूदा रूप को उसी तरह नहीं ले पाता जैसे उसे प्रसारित या स्थापित किया जा रहा है।"[34]

जेम्स खाखा के विचारों की तीव्रता बल्कि कहना चाहिए परिवर्तनगामी पक्षधरता तभी मिल जाती है और गाँधी की तस्वीर देखकर कहता है-"दिस पूअर ओल्ड मैन हैज वीकम गॉड आफ आल करप्ट गवर्नमेंट आफिसेज।"[35]

उपन्यासकार ने अंबिकापुर ज़िला-मुख्यालय, सरगुजा के एक गांव बीजाकुरा में आदिवासियों की अकाल की स्थिति को बड़े मार्मिकता से उद्धृत किया है। इस प्रसंग में एक

---

[34] कथादेश, पृ.सं.92

[35] काला पादरी, पृ.सं.14

सत्तर साल के एक बूढ़े ने बयान दिया है- "साहब रात में बच्चा मर गया। उसकी माँ ने कई दिनों से कुछ नहीं खाया था। उसको गोद में लेकर उसकी माँ भी मर गयी। उसने भी कई दिनों से कुछ नहीं खाया था, मैं भी मर जाना चाहता था, पर यह लोग मुझे ज़बरन अस्पताल ले आये।"[36]

यहीं से उपन्यास अपने मंतव्य की राह पकड़ लेता है। प्रसंग है बैंक में स्थानीय 'पॅलेस' के रायसाहब के आने का उनके आगमन से पूरा बैंक हिल गया है। जेम्स खाखा और आदित्य के बीच वार्तालाप चल रहा है। आदित्य बता रहा है, "इन्हें पता होना चाहिए कि बैंक किस तहसिल के किन गाँवों में किन लोगों को ऋण दे रहा है। शहर में जो व्यापारी राय साहब के साथ हैं उनके साथ बैंक का कैसा बर्ताव है और जो साथ नहीं हैं, कहीं बैंक उन पर तो पैसा बर्बाद नहीं कर रहा है, इसके अलावा ईसाइयों को कितना...।"[37]

राय साहब राजा के रूप में 'पॅलेस' ही नहीं है। काँग्रेस के जन प्रतिनिधि रहे हैं। परिवर्तित हो गयी स्थितियों में हिंदूवादी पार्टी के उम्मीदवार से हार गए हैं। तो उनकी आंखें ज्यादा चौकस हो गयी हैं। और लोगों की जीतने तथा सबक सिखाने की इच्छा भी खूँखार हो गयी हैं। राय साहब को यहाँ के मंत्री भी सलाम मारते हैं, "यहां के जो मंत्री हैं और जो आज की तारीख़ में भी राय साहब के सामने कुर्सी पर नहीं बैठ सकते, करमसाय उन्हें एक टेलिफोन किया गया, वे भोपाल से हवाई जहाज़ पर बैठ कर आये और यहाँ से राय साहब को साथ ले गये, सरकारी ख़र्च पर, तुम जानते हो जेम्स, तुम्हारा यह सरगुजा, लोकतंत्र का सबसे सस्ता सामंतवादी संस्करण है।"[38]

---

[36] वही, पृ.सं.21

[37] वही, पृ.सं.15

[38] वही, पृ.सं.16

जेम्स खाखा उस संघर्ष का प्रतीक है। धार्मिक व्यक्ति होते हुए भी धार्मिक संकीर्णता से ऊपर है। उसकी प्राथमिकता धर्म नहीं, मनुष्य है। बाइबिल उसे ताकत देती है। आंतरिक संकट में उसके उद्देश्य उसे बल देते हैं। उसकी भीतरी पीड़ा को हरते हैं। पर उसे धर्म अनुयायियों तक ही केंद्रीत नहीं होने देते, बड़े फलक पर मनुष्य से जोड़ते हैं। यहीं धर्म की सार्थकता का सवाल खड़ा होता है। वह अपने धर्माधिकारियों से भी बेहतर मानवीय मूल्यों वाली सामाजिकता का आग्रह करता है। "आई कान्फेस टू आलमाईटी गॉड एंड टू यू माई ब्रदर्स एंड सिस्टर्स दैट आई हैव सिनड थ्रू माई आईज़, इन माई थॉट्स एंड इन माई वर्डस , इन व्हट आई हैव डन एंड इन व्हट आई हैव फेल्ड टू डू एंड आस्क ब्लेस्ड मैरी, एवर रिलिजन, आल द एंजेल्स एंड सेंट्स एंड टू यू, माई ब्रदर्स एंड सिस्टर्स टू प्रे फॉर मी टू द लॉर्ड अवर गॉड।"[39]

प्रकारांतर से जेम्स का सवाल है- क्य धर्म मनुष्य की मुक्ति का माध्यम हो सकता है? उत्तर भी इसी में निहित है कि व्यवस्थाएँ अपने को बेहतर बताने की होड़ में और अपने अस्तित्व को बनाये रखने की होड़ में किसी-न-किसी प्रकार अपने अंकुश को ही कसती जाती है। विश्वासियों का स्वतंत्र होने की छूट देने की मनाही कर देती है।

अंततः कहा जा सकता है कि, "प्लासी या बक्सर की लड़ाइयों से कहीं अधिक जटिल और निर्णायक इस युध्द की परिणतियों को समझने की चेष्टा किसी इतिहासकार ने नहीं, पहली बार हिंदी में तेजिंदर ने की है।"[40]

इस उपन्यास में एक तरफ सुख, पद, प्रतिष्ठा और प्रभुपद के समकक्ष दर्जा है, दूसरी तरफ भूखे, असहाय धार्मिक प्रताड़ना के शिकार लोग हैं। जेम्स का जो कि स्वयं भी धर्माचारी

[39] वही, पृ.सं.50

[40] वही, फ्लैप

है, उनके पक्ष में खड़ा होना मूल्यवान आदर्शों की स्थापना का प्रस्थान बिंदु है, इस में 'काला पादरी' एक महत्वपूर्ण रचना है।

1.4.4.जो इतिहास में नहीं है- राकेश कुमार सिंह

राकेश कुमार सिंह ने अपने कथा साहित्य में अपने परिवेश और समय को भिन्न-भिन्न कोणों से रेखांकित किया है। उन्होंने आदिवासी जन-जीवन के गांव-कस्बे, खेत-खलिहान, जंगल-पठार, दुख-दैन्य, भूख, शोषण, अज्ञान, बेरोजगारी, अशिक्षा, विपन्नता और समय-समय पर होती क्रांतियों को संघर्ष-अमर्ष को बड़ी ही गहनता व सूक्ष्मता से प्रस्तुत किया है। इसी संदर्भ में-'जो इतिहास में नहीं है' उपन्यास दृष्टव्य है।

'जो इतिहास में नहीं है' यह उपन्यास ईस्ट इंडिया कम्पनी के शोषण और दमन से त्रस्त झारखंड के आदिवासी संथाल बहादुरों की मुक्ति-संग्राम की सशक्त महागाथा है। अंग्रेजी राज तथा अंग्रेजों द्वारा पोषित जमींदारों-साहूकारों के शोषण के विरूध्द स्वतंत्रता संग्राम के क्रांतिकारी स्वर, भारत में सर्वप्रथम आदिवासी जनजीवन के द्वारा बुलंद किये गये। शक्तिशाली सत्ता द्वारा दमित होने के बावजूद समय-समय पर इन आदिवासी जन ने अपने स्वतंत्रता संग्राम की गति को अवरूध्द होने नहीं दिया, वरन् भिन्न-भिन्न नामों से संबोधित होते हुए अन्य नेतृत्वधारी क्रांतिकारियों के माध्यम से यह स्वतंत्रता संग्राम अपने उद्देश्य को प्राप्त करने का अनवरत प्रयास करता रहा। इसी अनवरत प्रयास का परिणाम है 'सन् 1857 की क्रांति' जो भारतीय इतिहास में प्रथम जनक्रांति या प्रथम स्वतंत्रता संग्राम होने का दावा करती है।

आदिवासी जन-जीवन द्वारा किया गया स्वतंत्रता संग्राम, भारतीय इतिहास में प्रथम सत्ता द्वारा कुचल दिया गया। इसे चित्रित करते हुए लेखक कहते हैं- "संथाल आंदोलन 'हूल' कोई विद्रोह मात्र नहीं था वरन् अपनी अस्मिता, स्वायत्तता और संस्कृति के लिए वन पुत्रों का

मुक्तिकामी संघर्ष था । संतालों की यह क्रांति (कार्ल-मार्क्स, नोट्स आन इंडियन हिस्ट्री) थी और इस व्यापक जनक्रांति में नेतृत्व भले संतालों ने किया था परंतु सक्रिय भूमिका समस्त वनवासी जातियों-गोत्रों के साथ-साथ गैर-आदिवासी समाज ने भी निभायी थी। अंग्रेजों की सत्ता को तीरों पर तौलनेवाले वनचरों ने निर्णायक न सही, परंतु अनेक अवसरों पर अंग्रेजों को करारी मात भी दी थी ।"[41]

यह स्वतंत्रता संग्राम मात्र अंग्रेज़ी अत्याचार से मुक्ति पाने को ही नहीं था वरन् महाजन व ज़मींदारों के विरूध्द भी यह संग्राम किया गया था । निर्मम व ह्रदयहीन महाजनों की क्रूरता के अंत का भी बीड़ा इस आंदोलन ने उठाया था ।

दीनदयाल राय जैसे क्रूर महाजन के साथ 'हूल' के लड़ाकों ने भी ह्रदयहीन व्यवहार करते हुए उसे दंड दिया था । दीनदयाल महाजन की क्रूरता का शिकार हुआ जगन्नाथ अपनी प्रतिशोध की अग्नि को 'हूल' के लड़ाकों के सहयोग से शांत करता है, जिसे चित्रित करते हुए लेखक कहते हैं- "हाथ काहे को जोड़ता है रे महाजोन.....? विषैली आवाज में बोला जगन्नाथ सरदार, जैन अँगुरी से तू हमारा सूद जोड़ता था..... तौन अँगुरी दे । जौन हाथ से हमें कोड़ा मारता था आज दे तौन हाथ.....।"[42]

जंगल की भूमि पर अधिकार कर जमींदारों से गठबंधन कर अंग्रेजों ने वनपुत्रों का शासन के नाम पर अंधाधुंध शोषण किया । वनपुत्रों की पारंपारिक भूमि से उनके अधिकारों को छीनकर उसका बंटवारा कूटनीति के आधार पर किया गया । जिसे चित्रित करते हुए लेखक कहते हैं- "जब जंगल की भूमि का सरकारी खाता बनने लगा तो बाघामुंडी की अंधिकांश उर्वर भूमि पट्टे राजा गोमके के दादा के नाम पर चढ़ गये । बाघामुंडी गाँव को बसाने वाले संतालों को मिलो पहाड़ों पर बने खेत, रेतीली क्यारियाँ या ऊसर भू-खंड! सड़ी

[41] जो इतिहास में नहीं है, पृ.सं.9

[42] वही, पृ.सं.239

गायें ब्राम्हण को दान.....! बाघामुंडी की नींव डालने वाले संताल राजा गोमके के रैमत बना डाले गये जिनके पास पठारी भूमि के ऐसे खेत थे जिन्हें खोदने पर बोरसा भर भूमि के नीचे चट्टानों ही चट्टानों.....। टाँड़ खेतों के साथ जुड़े भविष्य वाले संताल सदैव परावलंम्बी और राजा गोमके की रैयत बनने को अभिशप्त थे।"[43]

भारत की भूमि पर अंग्रेजों को स्थायी रूप से टिक जाने का पूरा अवसर भी भारत के ही भेदिये व देशद्रोहियों ने दिया था। जमीनों के मालिक बनने की लालसा में ज़मीदारों ने अंग्रेजों से गठबंधन कर उनकी गुलामी को स्वीकार कर लिया था और अपने ही समाज व देश के विरूध्द कार्य किया और हर समय उसका अहित किया। ज़मीदार राजा गोमके और उसकी पीढ़ी भी अंग्रेजों के गुलाम बनकर देशद्रोही का कार्य कर रहे थे, जिसका चित्रण करते हुए लेखक कहते हैं- "बाघामुंडी के राजा गोमके राजेश्वर दयाल सिंह शाहदेव के पुरखे भी कम्पनी सरकार के एक बिचौलिये की भूमिका में ही जंगल में पहुँचे थे। राजा गोमके पीढ़ियों से अंग्रेजों के अपने आदमी थे। बाघामुंडी के आस-पास के तीस गाँवों में भू-राजस्व की वसूली सुनिश्चित करने वाले कम्पनी सरकार और आदिवासियों के मध्य बिचौलिये।"[44]

सन् 1857 से पूर्व हुए इन आंदोलनों के नायक वे लोग हैं, जिनके जल, जंगल और जमीन के नैसर्गिक अधिकारों से उन्हें लगातार बेदखल किया जाता रहा है। अंग्रेजी हुकुमत, जमींदार और साहुकार के त्रिगुट ने वस्तुतः इन वनपुत्रों को उनके जीने के प्राकृतिक अधिकार से वंचित कर रखा था। ऐसे में सिदो, बिरसा मुंडा जैसे लड़ाकों की अगुआई में संताल क्रांति 'हूल' का नगाड़ा बज उठता है। इस क्रांति को मात्र विद्रोह नहीं कहा जा सकता वरन् अपनी अस्मिता, स्वायत्तता और संस्कृति की रक्षा के लिए यह उनका संघर्ष है। इसमें उन्हें पराजय

[43] वही, पृ.सं.41

[44] वही, पृ.सं.40

और यातनाएँ ही बार-बार मिलती हैं, फिर भी उनकी अपराजेय जिजीविषा अपनी आजादी के लिए संघर्षरत रहती है।

"हारे हुए युध्द से उबरा योद्दा यदि अपने भीतर पुन्हा-पुन्हा युध्दरत होने का साहस बचाये रख पाता है तो यह आंतरिक विजय भी एक उपलब्धि होती है जो भविष्य की लड़ाइयों का पाथेय बन जाती है। झारखंड के आदि निवासियों ने अपने मन को जीता और अपनी संघर्षशील चेतना को संरक्षित रखा जिसके साक्ष्य ई.सन् 1781 के 'पहाड़िया विद्रोह' से लेकर ई.सन् 1855 के 'संताल हूल' तक ही नहीं, वरन् सन् सत्तावन के राष्ट्रव्यापी स्वाधीनता संग्राम .... और आगे सन् 1900 में मुंडा के महाविद्रोह 'उलगुलान' में मिलते हैं।"[45]

अंग्रेजी और स्वदेशी शासकों के शोषण से त्रस्त आदिवासी समाज अपने देश को इस दासता से मुक्त कराने के लिए कटिबध्द हो चुका था। देशभक्ति की भावना ने उनमें ऊर्जा का संचार कर दिया था, जिसके बल पर वह शोषक वर्ग को बुलंद स्वर में चुनौती दे रहा था। आदिवासी समाज के रामा मुंडा के माध्यम से लेखक देशभक्ति की भावना को चित्रित करते हैं- "अमानुष का जीवन जीनेवाला मुंडा आदिवासी रामा आज सर्वशक्तिमान कंपनी सरकार से अभय प्राप्त राजा गोमके को मानो चुनौती देता फिर रहा था। अंग्रेजों को 'गोरे ईसाई' और अंग्रेज समर्थक देसी ज़मीदारों को 'काले ईसाई' कहता रामा मुंडा, सर काटने की बात कर रहा था। पेट में दाने नहीं, जीभ गज भर की।"[46]

अपने देश के प्रति कुछ कर सकने का आनंद आदिवासी जन-जीवन में देशभक्ति के रूप में दिखाई देने लगा था। विदेशी सत्ता को समूल नष्ट करने का अदम्य साहस उनकी रग-रग में

[45] वही, पृ.सं.8

[46] वही, पृ.सं.106

दिखाई देने लगा था, जिसे चित्रित करते हुए लेखक कहते हैं- "अपने अस्त्र-शस्त्रों को हवा मे उछालते वनवासी नारे लगाने लगे.... हूल.... हूल.... हूल.... हूल ।"[47]

क्रांतिकारी नेता सिदो अपने पंचों के सम्मुख शपथ लेते हुए जनता को क्रांति के लिए प्रेरित करता है, जिसे चित्रित करते हुए लेखक कहते हैं- "जुलुम करना पाप है । जुलुम सहना भी पाप । पाप का भागी नहीं बनेगा आदिवासी । जंगल में चैन से जीना है । हमें तो दीकू लोगों को जंगल से भगाना होगा । नीलहे साहब, जमींदार, महाजन, दारोगा, नायब..... सब हमारा चैन छीनते हैं । सुख, रोटी, बेटी और बहीन छीनते हैं । सो इनको भगाना ही होगा । बात से नहीं भागेंगे तो सबको काट देंगे हम, बाकी काटेंगे बताकर कि काहे तुमको काट रहे हैं हम.....।"[48]

एकता के अभाव में आदिवासी जन-जीवन की हर लड़ाई को कुचल दिया गया, इसलिए सिदो ने आपसी लड़ाई, आपसी मतभेद तथा आपसी ईर्ष्या, द्वेष, टकराहट व जाति-पाँति की भिन्नता को दूर करते हुए एकता का संदेश दिया । सिदो के संदेश को उपस्थित जनसमूह मंत्रमुग्ध सा सुनने लगा । भीड़ को सहमत करने का मंत्र फूँकते हुए सिदो उन्हें कह रहा था- "सिल्ली गाँव का बुधो भगत अपनी जमींन के लिए दीकू लोगों से लड़ा। बुधो हारा । सिंगराई-विनराई भी जंगल के हक के लिए लड़े । दोनों हारे । तमाड़ के रूदन और कोता मुंडा भी अपने पुरखों से मिले जंगल-पानी के हक के लिए दीकू लोगों से लड़ मरे । हर बार हम जंगल के लोग हारे । हर बार हारे आदिवासी काहे कि हम संताल हैं, तुम पहाड़ियास यह मुंडा

[47] वही, पृ.सं.134

[48] वही, पृ.सं.130

है, वह उराँव....! जात गाँव में बँटकर छोट-छोट लड़ाई लड़ने वाला समाज होरेगारे.... हर दफे हारेगा....!"[49]

राकेश कुमार सिंह के उपन्यास की यह कथा एक विद्रोही संताल युवा मुरमू और उराँव युवती लाली के बनैले प्रेम के ताने-बाने से बुनी गयी है, जिसमें वहाँ के लोकजीवन और लोकरंग की प्रगाढ़ता है और जनजातिय समाज की धड़कनें भी।

1.4.5.धूणी तपे तीर- हरिराम मीणा

हरिराम मीणा ने अहिंसावादी और आध्यात्मिक विचारों के माध्यम से आदिवासी समाज को सुधारने का प्रयास किया है। इसके अलावा वे आदिवासियों के अधिकार और देसी रियासतों द्वारा किये जाने वाले शोषण की भी बात करते हैं। यही वजह है कि आदिवासियों में देसी रियासतों के प्रति अविश्वास का भाव पनपता है और अपने हक व हुकूक के प्रति सजग चेतना उत्पन्न होती है। यह सब गोंविद गुरू की आदिवासी समाज के बारे में सोच का नतीजा है। भले ही वे उन्हें पहुँचा हुआ भगत मानते हों। 'उदयपुर', 'डूंगरपुर', 'बांसवाड़ा' और 'कुशलगढ़' में रहनेवाले आदिवासियों के बीच गोंविद गुरू का समाज सुधार के मकसद से 'सम्प सभा' और 'धूणी स्थल' की स्थापना करते हैं।

'धूणी तपे तीर' राजस्थान की मानगढ़ पहाड़ी पर देसी रियासतों और अंग्रेज़ों की मिली-भगत, आदिवासियों के सामूहिक, बर्बर हत्याकांड पर आधारित है यह घटना-"देश का पहला 'जालियांवाला कांड' अमृतसर 1919 से छः वर्ष पूर्व दक्षिणी राजस्थान के बांसवाड़ा जिला के मानगढ़ पर्वत पर घटित हो चुका था, जिसमें जालियांवाला से चार गुणा शहादत हुई

[49] वही, पृ.सं.139

। अब छः सौ फीट की ऊँचाई के पहाड़ पर 54 फीट ऊँचा शहीद-स्मारक बना दिया गया है। गोंविंद गुरू की प्रतिमा भी है, फिर भी उस स्थल पर और ध्यान देने की अपेक्षा है।"[50]

आदिवासियों पर शताब्दियों से हो रहे अत्याचारों का वर्णन कोई नई बात नहीं है उन अत्याचारों की विधियों का उद्घाटन करना। रियासत में जब कहीं से भी कोई नया मार्ग निकाला जाता था तब उस मार्ग के आस-पास के गाँवों में रहने वाले आदिवासी बुजुर्गों के सिर पर भी उनके बाल काटकर, दो अंगुल चौड़ा रास्ता बनाया जाता था- "बात यह है हुजूर कि गैल तो जंगल में से होकर निकाली जा रही है, जागीरदारों के आदमी नाई लेकर हमारे घरों पर जाता है और बुजुर्गों के माथे के बालों को ललाट से चोटी तक दो-दो अंगुल की चौड़ाई में उस्तरा लगाकर काटते हैं। पूछने पर कहते हैं कि 'यह राज की गैल है।'अब जब हमारे इलाके से राज की असल गैल निकाली जा रही है तो माथे पर बाल काटकर बनायी जाने वाली राह की क्या जरूरत है और उस राह पर कोई चल भी तो नहीं सकता?"[51]

भारत के मूल निवासियों को लेकर इतिहास वेत्ताओं के मध्य बहुत काल से विवाद चला आ रहा है कि भारत का मूल निवासी कौन है? आर्य या कोई और। लेखक ने 'धूणी तपे तीर' में स्पष्ट रूप से यह बात स्वीकार की है कि भारत के मूल निवासी, भारत के आदिवासी ही हैं- "ये अपने को 'भूमिपुत्र' मानने में संतोष व्यक्त करते हैं जबकि इनके विजेता राजपूत अपनी उत्पत्ति देवताओं से-सूर्य या चंद्र से जोड़ते हैं। इन सूर्यवंशी व चंद्र-पुत्रों का भारत में कब आगमन हुआ, यह बात सदैव संदेहास्पद ही बनी रहेगी।"[52]

'धूणी तपे तीर' धर्म और धूमाल के द्वंद्व की गाथा है। गोविंद गुरू की समाज सुधारवाली बातें आदिवासियों की समझ में नहीं आती थीं। वे आपस में बातें करते थे- "वह

---

[50] धूणी तपे तीर, पृ.सं.20

[51] वही, पृ.सं.50

[52] वही, पृ.सं.43

धर्म की बात ज्यादा करता है । धूमाल की बातें नहीं करता । बिना धूमाल मचाए हमारी तकलीफ राज के कानों तक नहीं पहुँचेगी ।"[53]

वह आदिवासियों पर होने वाले अत्याचार, गरीबी व दुख का कारण अंग्रेजों और देसी रजवाड़ों को मानता है । उसका कहना है कि आदिवासियों पर जुल्म ढाने के लिए "फिरंगियों को रजवाड़े ही बुलाकर लाये हैं और अब दोनों मिलकर हमारा खून चूस रहें हैं । इन्हीं के भाई-बंधू सूदखोर साहु और महाजन हैं । ये हमें कर्जे से उबारने नहीं देते हैं तो इन सबके खिलाफ हम सब आदिवासी भाई इक जोड़ होकर धमाल नहीं करेंगे तब तक हमारा दुख दूर नहीं होयेंगे ।"[54]

आदिवासी धर्म नहीं धूमाल चाहते थे । उनके कष्ट के दो ही कारण थे- राम और राज तब वे धर्म कैसे चाह सकते थे । यह बात गोविंद गुरू को देर से समझ में आई थी शायद इसीलिए कथा का अंत होते-होते वे धूमाल को अपनी मूक सहमति प्रदान कर देते हैं- "मानगढ़ पर संग्राम के दौरान कुरिया कुंडा की घाटी ओर शिला खंड की आड़ में मोर्चा लेने की कोशिश में फिसल गया था । उसके हाथ में धनुषबाण था । मानगढ़ पर्वत से कुंड़ा की घाटी के उपर उड़ते हुए सफेद गिध्द पर उसने तीर चलाया । गिध्द पंख फड़फड़ाता घाटी में गिर गया। बुलंद आवाज में कुरिया ने हलकारा दिया धूमाल ! कुंडा की घाटी में प्रतिध्वनि गूँजी-धूमाल-धू....मा....ल....!!

कुरिया का ऐलान सुनकर गोविंद गुरू को लगा उसके मन के भीतर प्रवाहित आशा की नदी में अचानक उफान आ गया हो । पीछे बंधे हुए दोनों हाथों की मुट्ठियाँ अपने आप भिंचती गई । आशीर्वाद की मुद्रा में वे अपना दाहिना हाथ हवा में उठाना चाहते थे, लेकिन वे विवश थे । उन्होंने सिर ऊँचा किया । जिधर से कुरिया के हलकारे की आवाज आई, गर्दन मोड़कर देखा । उनके होंठों पर कंपन हुआ जैसे वे कह रहे हों-रे कुरिया भाई, हम एक माँ के पेट के

---

[53] वही, पृ.सं.117

[54] वही, पृ.सं.118

जाये तो नहीं, पर धूणी माता की गोद में पल कर हम एक से भगत बने हैं। मुझ जैसे साधु की साधना का पुण्य-परताप तेरे साथ है। अब तू ही मेरी दाहिनी भुजा है। तू लड़ते रहना मेरे बांका भगत ! धरम के कुरूछेत्तर में देर-सबेर भोलेनाथ हमें जरूर जितायेगा !!"[55]

गोविंद गुरू के समय में ही एक टंट्या मामा हुए जो आदिवासियों के दुख को दूर करने के लिए हिंसा के रास्ते पर चल रहे थे। वे "आदिवासियों की लड़ाई के लिए दुस्साहस की हद तक बहादुरी अनिवार्य मानते थे। राजसत्ता व्दारा आदिवासियों पर जो जुल्म-सितम हो रहे थे उस पर उनका कहना था कि धूर्तता व षड़्यंत्रों का मुकाबला शराफत से नहीं, बल्कि चतुर व चालाक समझ से ही संभव हो सकता है। उपदेशों से जागृति का काम एक सीमा तक ही फैलाया जा सकता है। धरातल के स्तर पर सक्रिय कदम उठाकर राजा ने दमन दबाव व भय का वातावरण नित नये कानून कायदों की आड़ में बना रखा है तो 'अर्ज' की भाषा से कहाँ काम चलने वाला है।"[56]

आदिवासी परंपरा के मिथक भी होते हैं। ये मिथक बताते हैं कि आदिवासी परंपरा की जड़ें कितनी गहरी हैं। गोविंद गुरू अपने भजनों में इन मिथकों का प्रयोग करते थे। एक मिथक 'मकना हाथी' है। यह पापाचारी लोगों के विनाश की भविष्यवाणी से संबंधित मिथक हैं-

"आहुड़ वाला पाटोड़ में घाणियों घलाये है
डाकणी जोगिणी घाणी घलाये है
भोपा डोपा घाणी घलाये है
तेली तम्बोली घाणी पेले है
मकानो हाथी घाणी पेले है.....

[55] वही, पृ.सं.376
[56] वही, पृ.सं.311

भावार्थ यह है कि अंध विश्वास पैदा कर शरीफ लोगों को बहका कर अपना स्वार्थ सिध्द करने वाले कुछ लोग हैं वे 'अहुड़ा वाला पाटोड़' जैसी बुरी जगह तैयार कर उसमें अंधविश्वासों की घाणी चलाकर भोले भाले इन्सानों को सताते रहते हैं । यह कलियुग का चलन है । इससे निजात दिलाने के लिए ईश्वर 'मकना हाथी' भेजता है जो सत्यानाशी घाणी (बड़ी घाणी) चलाता है जिसमें सभी प्रकार के पापियों का नाश हो जाता है ।"[57]

आदिवासी समाज को सत्ता किस तरह शिकार बनाती है । कभी उनके अधिकारों में तरक्की नहीं करती है । इन सबको हरिराम मीणा ने इस उपन्यास में रेखांकित किया है ।

[57] वही, पृ.सं.230

तृतीय अध्याय

रणेंद्र : व्यक्तित्व एवं कृतित्व

3.1 व्यक्तित्व

3.1.1 जन्म

3.1.2 परिवेश

3.1.3 साहित्य-सृजन

3.1.4 सेवाकार्य

3.1.5 सम्मान एवं पुरस्कार

3.2 कृतित्व

3.2.1 रात बाकी एवं अन्य कहानियाँ

3.2.2 ग्लोबल गाँव के देवता

3.2.3 थोड़ा सा स्त्री होना चाहता हूँ

3.2.4 झारखण्ड एन्साइक्लोपीडिया

तृतीय अध्याय

रणेंद्रः व्यक्तित्व एवं कृतित्व

3.1. व्यक्तित्व

3.1.1. जन्म

रणेंद्र का जन्म एक शिक्षित परिवार में 10 फरवरी सन् 1960 ई. को हुआ था। आपके पिता- डॉ. शत्रुघ्न प्रसाद, बिहार राज्य के नालंदा जिले के सोहसराय नामक कस्बा स्थित 'किसान कॉलेज' में 1957 से हिंदी विभाग के विभागाध्यक्ष 1972 तक रहे थे। उन्होंने लगभग एक दर्जन उपन्यास लिखे हैं। 'सिध्दियों के खंडहर' से लेकर 'काश्मीर की बेटी' उपन्यास उनमें प्रमुख हैं। कबीर के जीवन पर केंद्रित उनका उपन्यास 'सुनो भाई साधो' अत्यंत चर्चित रहा है।

आपकी माता श्रीमती उर्मिला प्रसाद ने भी एम.ए. तक की पढ़ाई की थीं।

3.1.2. परिवेश

रचनाकार के जीवन में परिवेश की क्या भूमिका होती है ? इस संबंध में रमेशचंद्र शाह ने लिखा है कि- "हर कथाकार का अपना एक संसार-एक निजी मानसिक परिवेश होता है जो कि उसके अतीत से ताल्लुक रखता है और चेतना-प्रवाह में जिसके जीवित स्पंदन की सुलभता, उसे कथा-रचना में प्रवृत्त करनेवाले कारणों में से एक हो सकती है। यह कहना की कोई रचनाकार संस्कार के स्तर पर अपने एक खास निजी परिवेश में स्थापित है, एक प्रकार से

देखा जाए तो यह कहने के बराबर है कि उसकी संवेदना भी एक खास मायने में महत्वपूर्ण है ।"[58]

रणेंद्र बचपन से ही रचनात्मक, सृजनात्मक परिवेश में पले-बढ़े हैं । पिता लेखक और माताजी की एम.ए. तक की पढ़ाई का उनके ऊपर गहरा प्रभाव दिखाई देता है । पारिवारिक परिवेश ने लेखन की ओर अग्रसरित किया ।

इनके मुहल्ले में अधिकांश श्रमजीवी रहते थे- बीड़ी मजदूर, ट्रक ड्राईवर, मछली-सब्जी बेचने वाले, दुकानों में काम करने वाले आदि । इन्हीं 'घरों' में खेलते-कूदते, खाते-पीते बड़े हुए है । इन्हीं घरों में इनके बाल-सखा रहते थे । इनके साथ इन्होंने हायस्कूल-कॉलेज तक की पढ़ाई पूरी की ।

3.1.3.साहित्य-सृजन

रणेंद्र को साहित्य लिखने की प्रेरणा आपके पिताजी से मिली है । रणेंद्र ने महाश्वेता देवी, अरुंधती राय, संजीव आदि रचनाकारों को अपना आदर्श माना है । इन रचनाकारों के रचनाओं से भी उनको साहित्य-सृजन करने में मदद मिली है । इसके अलावा अनेक रचनाकारों की रचनाओं से प्रेरणा मिली है । जैसे- डॉ.बी. वीरोत्तम की पुस्तक 'झारखंडः इतिहास एवं संस्कृति' एवं 'रांची जिला गजेटियर' से मुंडाओं के आगमन के पूर्व छोटानागपूर में असुर सभ्यता को समझने में मदद मिली ।

'नया ज्ञानोदय' में प्रकाशित होनेवाले भगवान सिंह के धारावाहिक आलेखों ने अंगिरस-अंगिरा-अगरिया-असुर के संबंधों को स्पष्ट किया । कुमार सुरेश सिंह के संपादन में प्रकाशित पुस्तक 'ट्राईब्ल मुवमेंट्स इन इंडिया' (Tribal Moment in India) तथा 'अन्यथा' के जुलाई 2006 के 'रेड इंडियन्स' पर केंद्रित अंक एवं नेशनल ज्योग्रोफिक सोसाइटी की

[58] आलोचना, पृ.सं.73

पुस्तक 'द वर्ल्ड ऑफ द अमेरिकन इंडिया' (The world of American India) ने आपके रचनाओं को बृहत्तर आयाम दिए।

'राज्य प्रशासन सेवा' में नियुक्ति होने के पश्चात रोहतास जिला के चेनारी अंचल में, चेरो जनजाति की दुर्गावती जलाशय परियोजना के कारण विस्थापित होने के प्रक्रिया को नजदीक से देखने-समझने का अवसर मिला । रोहतास जिले की सामंती-सवर्णवादी मानसिकता, दलितों के प्रति अत्यंत तीव्र घृणा-उपेक्षा के परिवेश ने मध्यवर्गीय संस्कारों के केंचुल को उतारने में मदद पहुँचाई । रणेंद्र के लिए चेनारी का पदस्थापन जीवन का टर्निंग पॉइंट (Turning Point) साबित हुआ । यहाँ का अनुभव आपके 'रात बाकी' कहानी में दिखाई देता है।

3.1.4. सेवाकार्य

रणेंद्र ने समय-समय पर भारत सरकार की कई परियोजनाओं पर कार्य करके अपनी सेवा भावना का परिचय दिया है। 1988 में राज्य प्रशासनिक सेवा में चयनित। 1992 से झारखंड में विभिन्न पदों पर। अनेक आदिवासी समुदायों के बीच रहने, घुलने-मिलने, सुख-दुख में भागिदारी होने एवं विशिष्ट संस्कृति-उस पर पड़े रहे प्रभावों को समझने-सीखने का अवसर आपको मिला। आदिवासी संस्कृति-समाज पर वैश्विकृत अर्थव्यवस्था के प्रभावों का जिज्ञासु विद्यार्थी की तरह अध्ययन करते रहे।

वर्ष 1999-2004 तक प्रतिनियुक्ति पर भारत सरकार के खादी-ग्रामोद्योग आयोग के झारखंड राज्य कार्यालय का प्रभारी पदाधिकारी। इस कार्यावधि ने पूरे झारखंड में घूमने-समझने और इसकी विविधता के अध्ययन का आपको शुभअवसर प्रदान किया। इस पाँच साल की अवधि में 'झारखंड एन्साइक्लोपीडिया' (Jharkhand Encyclopedia) के चार खंड़ों की नींव पड़ी।

वर्ष 1999-2004 तक की अवधि साहित्यिक सक्रियता की भी रही। डॉ. खगेंद्र ठाकुर, प्रसिध्द समालोचक के निर्देशन में मित्रों के साथ एक साहित्यिक पत्रिका 'कांची' का संपादन प्रारंभ किया। इस त्रैमासिक पत्रिका के पाँच-छह अंक प्रकाशित हुए।

झारखंड का लोकप्रिय दैनिक समाचार-पत्र 'प्रभात खबर' के साप्ताहिक साहित्यिक पृष्ठ की जिम्मेवारी एक-ड़ेढ वर्ष तक संभाली। कुछ अंतराल बाद दैनिक समाचार-पत्र 'हिंदुस्तान' के साप्ताहिक साहित्यिक पृष्ठ की जिम्मेवारी साल-ड़ेढ साल तक निभाई। कविताएँ लगातार लिखते रहें। रणेंद्र की कविताएँ- 'वागर्थ', 'नया ज्ञानोदय', 'हंस' तथा 'कथादेश' आदि पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होते रही हैं। सामाजिक-आर्थिक आलेख छद्मनाम (राजन डोम) से स्थापित समाचार-पत्रों में निरंतर प्रकाशित होते रहे हैं।

3.1.5. सम्मान एवं पुरस्कार

रणेंद्र को 'रात बाकी' कहानी के कथादेश की अखिल भारतीय प्रतियोगिता वर्ष 2005 में प्रथम स्थान प्राप्त हुआ है। इस प्रतियोगिता में प्रथम आने के पश्चात् 'कथा लेखन' में गंभीरता से सक्रिय हुए। 'प्रगतिशील लेखक संघ' की झारखंड राज्य की ईकाई में एक दशक से अधिक समय तक सक्रियता ने इनके लेखन को धार दी।

3.2. कृतित्व

युवा कथाकार रणेंद्र का रचना संसार बहुत ही विस्तृत है। विस्तृत इसलिए है कि, अपने एक उपन्यास, एक कहानी-संग्रह एवं एक कविता-संग्रह में इन्होंने पूरे ब्रम्हाण्ड को देखने की कोशिश की है। उनकी रचनाओं को देखने से पता चलता है कि, उनकी रूचि 'हाशिये के समाज' की समस्याओं को समाज के सामने लाने तथा उन समस्याओं का परिमार्जन करने में अधिक दिखाई देती है।

इनकी साहित्यिक कृतियाँ इस प्रकार हैं-

1.ग्लोबल गाँव के देवता (उपन्यास)2009

2.रात बाकी एवं अन्य कहानियाँ (कहानी-संग्रह)2010

3.थोड़ा सा स्त्री होना चाहता हूँ (कविता-संग्रह)2010

इन रचनाओं का अध्ययन-विश्लेषण इस प्रकार किया जा सकता है-

3.2.1.'रात बाकी एवं अन्य कहानियाँ'

'रात बाकी एवं अन्य कहानियाँ' कहानी-संग्रह राजकमल प्रकाशन पटना से सन् 2010 में प्रकाशित हुआ है। इस कहानी-संग्रह के वैशिष्ट्य का विश्लेषण निम्न रूप में कर सकते हैं-

'रात बाकी एवं अन्य कहानियाँ' वर्ष 2010 प्रकाशित प्रथम कहानी संग्रह है। इसमें संग्रहित कहानियाँ पुस्तकाकार रूप में आने से पहले विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हो चुकी हैं।

इस संग्रह की कहानियाँ बिहार और झारखंड की पृष्ठभूमि पर लिखी गई हैं, जहां व्यवस्था यानी पुलिस, प्रशासन तथा नेता की क्रूरताएं कुछ अधिक ही दिखती हैं। इन कहानियों में भी ये क्रूरताएं काफी मात्रा में दिखाई देती हैं। किसी को नक्सलवादी बताकर मार देने, तो किसी पर 'पोटा' लगाकर जेल में डाल देने की घटनाओं के साथ-साथ औरतों को सताने की अनेक घटनाओं का वर्णन इन कहानियों में हैं। पुष्पा, सोमा, सरस्वती, पद्मजा जैसी स्त्रियों की दुर्दशा देखकर तो सरकारी तंत्र से वितृष्णा होने लगती है।

रणेंद्र की कहानियाँ हमें दिखाती हैं कि समाज की समस्याएं अभी खत्म नहीं हो गई हैं। आदिवासी और दलित मुद्दों पर अभी और लिखने की जरूरत है, कि सामाजिक, राजनीतिक, प्रशासनिक व्यवस्था की चक्की के नीचे आम-आदमी पिसा जा रहा है, कि इन सभी मुद्दों को रणेंद्र ने अपने कहानियों में दिखाया हैं।

किसी भी रचनाकार को समकालीन बनने के लिए जो अपेक्षित अर्हयताएँ चाहिए वे हैं-1.शोध की गहन प्रवृत्ति।

2.लोक-कथाओं में सृजनात्मक-प्रयोग ।

3.बोल-चाल की भाषा का रचनात्मक रूप ।

ये तीनों बिंदु रणेंद्र की कहानियों का वैशिष्ट्य है । साथ ही अपने समय के रचनाकारों से अलग खड़ा करने के मौजूदा आधार बिंदु भी ।

इनके कहानियों के संदर्भ में युवा आलोचक राजीव 'राही' लिखते है कि, "रणेंद्र की कहानियों से गुजरने के पश्चात् इनकी तीन विशेषताएं अनायास ही हमारा ध्यान खींचती हैं- शोध की गहन प्रवृत्ति, लोक-कथाओं में सृजनात्मक प्रयोग तथा बोल-चाल की भाषा का रचनात्मक रूप ।"[59]

'रात बाकी' कहानी का एक पात्र नीज भाषा में कहता है—

"का सोच रहे है सी.ए.साहब? बसी मत सोचिए । छोटा भाई हैं इसलिए समझा रहा हूँ । ई कम्युनिस्टवा डी.डी.सी. बहुत दुलारा देखाते हैं । उनके बहकावे में भी नहीं पड़ना ई लोग का हैं मिसिर बाबा के लिए, बस हलुआ । एक कौर में गड़प । जब चाहे तब ट्रान्सफर आर्डर हाथ में । आप अपने बारे में सोचिए । आपके लिए भी ठेठ जंगली इलाका चुना रहा है ।"[60]

इसी कारण इनकी कहानियाँ लिखने के लिए लिखी गई प्रतीत नहीं होती । संवादधर्मिता इनकी कहानियों का वैशिष्टय है ।े

रणेंद्र के कहानियों की एक बात यह है कि, सामान्य 'जन' पर कहानियाँ लिखने के बावजूद रणेंद्र ने इन कहानियों को जनवादी फॉर्मूले से दूर ही रखा है । हालांकि प्रतिरोध इन कहानियों में भी है लेकिन सूक्ष्म रूप में 'ठीक बा नू, सायरा बानू' कहानी को देखें । पुराने प्रेमी, अब विधायक राजेश्वर से अपमानित होकर पद्मजा कुछ कर तो नहीं पाती लेकिन उसके हाव-भाव बता देते हैं कि उसके मन में राजेश्वर के प्रति कितना घृणा भर गई है । 'रात बाकी'

---

[59] हंस, पृ.सं.87

[60] रात बाकी एवं अन्य कहानियाँ, पृ.सं.15

कहानी की पुष्पा की पङ्ख से थूकने की आवाज, 'चंपा गाछं, अजगर और तालियां' कहानी की सरस्वती के गाछ में बदलने और उस गाछ की टहनियों से हज़ार लाख धनुष बनने की कल्पना भी इसी सूक्ष्म विद्रोह को दर्शाती है। अब यह बात तथ्य और सत्य दोनों रूपों में हमारे सामने आ चुकी है कि, हमारे देश की 'लोकतांत्रिक' सरकार बहुराष्ट्रीय कंपनियों के हित के लिए येन-केन-प्रकारेण आदिवासियों का पूर्णतः सफाया कर देना चाहती है। दमन की बुलंदियां चढ़ती इस सरकार का महाशक्ति बनने का दिवास्वप्न पूरा हो-न-हो परंतु इसे पूरा करने के लिए वह जल, जंगल, जमीन और जान की कीमत पर भी बहुराष्ट्रीय कंपनियों की दलाली पूरी निष्ठा के साथ करती रहेगी। 'ग्लोबल देवताओं' और उनके दलालों के खिलाफ खड़े हो रहे आदिवासियों के साथ होने के लिए ललकारती हैं। हमसे भद्रवर्गीय श्रेष्ठता के मुखौटे की आड़ में छिपी अवसरवादिता को त्यागने की अपील करती हैं। इसलिए इनकी कहानियों से गुजरने के पश्चात् 'ग्लोबल गाँव के देवता' उपन्यास इसी क्रम में रची गई एक लंबी कहानी प्रतीत होती है।

इस संग्रह में गैर-आदिवासी जीवन पर लिखी कहानियाँ भी हैं, जिनमें 'रफिक भाई को समझाइए' एक बेजोड़ कहानी है, परंतु 'बारिश में भीगती गौरेया' और 'ठिक बा नू सायराबानू' कहानियाँ भाव और शिल्प के स्तर पर अपने लक्ष्य से भटक गई प्रतीत होती हैं। इसके अलावा 'बस वह धूल थी', 'जल रहे हैं हरसिंगार' कहानी रणेंद्र को एक सक्षम कहानीकार होने को सिध्द भी करती है परंतु उनसे और बेहतर की अपेक्षा है।

3.2.2. 'ग्लोबल गाँव के देवता'

युवा कथाकार रणेंद्र का अभी तक का एक मात्र उपन्यास है- 'ग्लोबल गाँव के देवता' जो 2009 में भारतीय ज्ञानपीठ से प्रकाशित हुआ है।

'ग्लोबल गाँव के देवता' एक उपन्यास है जिसमें भारत के, विशेष रूप से झारखंड के एक आदिवासी समुदाय का अपने अस्तित्व, आत्मसम्मान और अस्मिता की रक्षा के लिए लंबे संघर्ष और लगातार मिटते जाने की प्रक्रिया का संवेदनशील चित्रण है। वह समुदाय है 'असुर' नाम के आदिवासियों का।

पिछले वर्षों से भूमंडलीकरण के साथ जो धारणाएं भारत में आई हैं, उनमें से एक यह है कि विश्व अब तक एक 'ग्लोबल विलेज' या 'ग्लोबल गाँव' बन गया है। व्यक्ति और समाज के जीवन में हर प्रसंग में देशी-विदेशी का फर्क मिट गया है। लोभ और लूट से संचालित पूँजीवाद के भूमंडलीकरण के दौर में भारत की प्रकृति और संपत्ति सबसे अधिक वही है, जहाँ आदिवासी रहते हैं। इसलिए आदिवासियों की जमीन और जिंदगी खतरे में है। इस उपन्यास में इसी शोषण का चित्रण किया गया है।

उपन्यासकार इस उपन्यास के माध्यम से यह दिखाना चाहते हैं कि, आदिम जन-जातियाँ वनों पर आश्रित रहीं हैं। आदिकाल से लेकर आज तक वे वन्य जीवन जीती रही हैं किंतु अपने देवता कहने वाले नगर-वासियों (आदिवासियों के 'देवराज इंद्र' से लेकर आधुनिक काल के 'ग्लोबल गाँव' के व्यापारियों) ने उनका लगातार दोहन शोषण और उत्पीड़न किया है। सभ्यता और विकास के नाम पर प्रकृति को रौंदा है, साथ ही प्राकृतिक जीवन जीने वाले निरीह प्रकृत मानव-समुदायों के जीवन के साथ हिंसक, बर्बर, अशिष्ट और अश्लील छेड़छाड़ की है। उनके आस्था के साथ खिलवाड़ किया है, उनकी परंपराओं को तोड़ा है, उनके जीवन-साधनों और संसाधनों को तहस-नहस किया है और उन्हें शरणार्थियों की स्थिति में ला पटका है।

'ग्लोबल गाँव के देवता' का सूत्रधार एक ऐसा व्यक्ति है जिसे लंबी बेरोजगारी और अपमान की गाढ़ी काली रात के बाद बरवे जिला कोयल बीघा प्रखंड के भौंरापाट नामक

जगह के एक आदिवासी स्कूल में मास्टरी का प्रस्ताव मिला है । अपने घर से तीन सौ किलोमीटर दूर पहाड़ के ऊपर जंगलों के बीच स्थित इस जनजातीय स्कूल की कल्पनामात्र से ही उसका दिल बैठ जाता है। सूत्रधार का वहीं का हो जाना उपन्यास की पूरी कथा यात्रा को एक खास तरह की आत्मीयता और स्वानुभूत पीड़ा की टीस से भर देता है।

इस उपन्यास में ग्लोबल गाँव के दो देवताओं का उल्लेख है। पहला है विदेशी वेदांग, ग्लोबल गाँव का बड़ा देवता-कंपनी है-विदेशी पर नाम देशी । दूसरा देवता है-टाटा, जिसने असुरों के लोहा गलाने और औजार बनाने के हुनर का अंत कर दिया है। इसलिए असुर मानते हैं कि टाटा कंपनी ने उसका जो विनाश किया है वह असुर जाति के पूरे इतिहास की सबसे बड़ी हार है। "लेकिन बीसवीं सदी की हार हमारी असुर जाति की अपने पूरे इतिहास में सबसे बड़ी हार थी । इस बार कथा-कहानी वालों सिंगबोंगा ने नहीं, टाटा जैसी कंपनियों ने हमारा नाश किया। उनकी फैक्टरियों में बना लोहा, कुदाल, खुरपी, गैंता, खंती सुदूर हाटों तक पहुँच गये । हमारे गलाये लोहे के औज़ारों की पूछ ख़त्म हो गयी । लोहा गलाने का हज़ारों-हज़ार साल का हमारा हुनर धीरे-धीरे ख़त्म हो गया।"[61]

इस उपन्यास में छत्तीसगढ़, मणिपुर, केरल, महाराष्ट्र और मध्यप्रदेश के आदिवासियों के संघर्षों में स्त्रियों की नेतृत्वकारी भूमिका और बहादुरी के प्रति गहरा सम्मान व्यक्त हुआ है। इन आदिवासियों की लड़ाई अपनी धरती को बचाने की लड़ाई है । इसलिए उपन्यासकार सोचता है कि "धरती भी स्त्री, प्रकृति भी स्त्री, सरना माई भी स्त्री और उसके लिए लड़ती सत्यभामा, इरोम शर्मिला, सी.के.जानू, सुरेखा दलवी और यहाँ पाट में बुधनी दी और सहिला, ललिता भी स्त्री । शायद स्त्री-ही-स्त्री की व्यथा समझती है। सीता की तरह धरती की बेटियाँ-धरती में समाने को तैयार।"[62]

---

[61]ग्लोबल गाँव के देवता, पृ.सं.83

[62] वही, पृ.सं.22

अंततः कहा जा सकता है कि अपने हित साधने में ये देशी-विदेशी कंपनियाँ इस कदर मशगूल है कि इन्हें अपराध और भ्रष्टाचार के लिए भी जगह देने में कोई संकोच नहीं है। राजनीतिज्ञों, अफसरशाहों और बाहुबलियों के पुराने त्रिकोण को बाबा वेशधारी धर्म के व्यापारियों ने चौखट विस्तार दे दिया है। धन की सत्ता के पीछे जब इतना बड़ा तंत्र खड़ा हो तो भला साधनविहीन क्रांति कब तक छाती ठोक कर खड़ा रहेगी।

3.2.3. थोड़ा सा स्त्री होना चाहता हूँ

कथाकार रणेंद्र ने आदिवासियों के झारखंडवासी समूहों के सामाजिक, सांस्कृतिक जीवन को नज़दीक से जाना पहचाना है। आदिवासियों के साथ उनका रागात्मक संबंध रहा है। उनके जीवन संघर्षों में वे सहभागी रहे हैं। कथाकार के रूप में जो साहित्य उन्होंने रचा उसके अतिरिक्त उनकी कुछ कविताएँ भी प्रकाशित हुई है जो, 'थोड़ा सा स्त्री होना चाहता हूँ' नाम से 2010 में शिल्पायन प्रकाशन दिल्ली से प्रकाशित हुई है।

रणेंद्र की कविताएँ भी अपने कथा-साहित्य की भाँति आदिवासी जनजीवन के सामाजिक, सांस्कृतिक स्वरूप की झाँकी को प्रस्तुत करती है। उन्होंने उन कविताओं में आदिवासियों के दुखमय जीवन को वाणी दी है। उनकी कविता पर टिप्पणी करते हुए कुमार मुकुल लिखते हैं कि, "रणेंद्र की कविताओं से गुजरना जैसे दुखमय जीवन की स्मृतियों से गुजरना है। दुख जो हमें सालता है बारह, चलाता है हमारे भविष्यत के स्वप्नों तक को। हतवाक् करती हैं यह कविताएँ और ह्रदय की गहन अंधअंतःकारा के टिमकते दीपकों में जैसे स्नेह द्रव की कुछ बूँदे पड़ती हैं और एक लौ उमगती है नई पत्ती सी काँपती।"[63]

यह रूप उनकी कविता में दृष्टव्य हैं-

"कौन जाने उसके बिरडोह टंडा में,

बसंत आता था या नहीं,

[63] थोड़ सा स्त्री होना चाहता हूँ, फ्लैप

अकाल मृत्यू आ ही जाती अक्सर कई-कई रूप धरकर ।"[64]

साथ ही साथ वह दुखमय जीवन में भी आशा की किरणों की कोंपल फूटती दिखाते हैं। जैसे-

"नवोदित सूर्य के प्याले में

कूँची डूबोकर

सूनहरा रँगेगी सारा आकाश

चाँद को मुठ्ठी से निचोड़

दूधिया कर देगी सातों समुद्र सप्तर्षि के छत्ते से

शहद चुआ कर

मीठा बनायगी नदियों का पानी

हरे होंगे सारे ठूँठ

पकेगा सपनों का लाल-लाल फला ।"[65]

रणेंद्र ने आदिवासी जनजीवन की सांस्कृतिक भूमि को मुख्यधारा के लोगों द्वारा प्रताड़ित करने की साजिश की ओर भी इशारा किया है। 'अवसान बेला पर' कविता में कवि ने आदिवासी जनजीवन के ह्रास का चित्रांकन किया है। उसी कविता में कवि कहता है-

"दम-दम दमकता है

मुख्यधारा का चमकीला चेहरा, जिसकी

सूर्य की आभा झेल नहीं पा रही

विकलांग हो रही

हमारी पीढ़ी"[66]

---

[64] वही, पृ.सं.10

[65] वही, पृ.सं.25

[66] वही, पृ.सं.22

आज चकाचौंध की दुनिया में आदिवासी जनजीवन की साँझी संस्कृति को जो खतरा उत्पन्न हो रहा है उसकी ओर कवि इशारा कर रहे हैं। कवि रणेंद्र की रागात्मक सहानुभूति उन तमाम मजदूरों के प्रति भी है जिसके दुखमय जीवन को कवि वाणी दे रहा है। "सुख के कई रंग होते हैं पर दुख का एक ही रंग होता है माटी-सा, माटी से उठता ढूह-सा, फिर माटी-सा पसर जाता। दुख के मर्म को इस तरह अभिव्यक्त करने की यह दृष्टि ही है कवि जो ऐश्वर्या रॉय के नौलखा परिधान पर बूधन बिरजिया की फटी हुई गमछी को तरजीह देता है।"[67]

"सबको खतरा था

बूधन बिरजिया

उसकी फटी हुई गमछी

और उठी हुई उँगली से"[68]

काव्य-संग्रह की समूची कविताओं में आदिवासी जनजीवन को सहानुभूतिपरक दृष्टि से चित्रित करने में कवि को सफलता मिली है। मजदूरों के प्रति अपना सहज दुखबोध ही है जो- 'युध्द' शीर्षक कविता में कोयला खोदने वाले व ढोनेवाले एक मजदूर को वे योध्दा की तरह चित्रित करते हैं। जैसे-

"कभी नहीं मानेगा वह हार

हमारा वीर बहादूर

जनरल-मार्शल

बूधन जवान

जानता है

[67] वही, फ्लैप

[68] वही, पृ.सं.12

किसी दिन

खदान धँसान से

देगा वह बलिदान

न बिगुल

न तिरंगा

न सम्मान।"[69]

यह कवि के गहन दुखबोध से उपजी दृष्टि ही है जो कोयला खोदने व ढोनेवाले मजदूर को एक 'वीर योध्दा' के रूप में चित्रित करता है।

इस काव्य-संग्रह की कविताओं में दुखमय स्मृतियाँ, श्रमजीवि युवतियाँ, युध्दरत काम करनेवाला मजदूर चकाचौंध की दुनिया से आहत जन, सपनों में अपने आपको बदला हुआ देखता बच्चा जैसे कई विषय हैं जो इन कविताओं के माध्यम से कवि आदिवासी जनजीवन पर शहरी सभ्यता से जो परिवर्तन हो रहा है उसकी ओर इशारा करते हैं। आज उसका बदला रूप कवि इन शब्दों में दिखाता है-

"अब वहाँ आकाश व नहीं है

न जंगल हरा

न नदियाँ साँवली

न धरती गोरी

बादशाह सलामत ने

खुरच लिए रंग सारे

अब वे

खाकी से रंगेंगे

पूरा कैनवास"[70]

---

[69] वही, पृ.सं.18

'कविता रचती स्त्री' में कवि ने अँधेरी भरी कोठरी में सीलन भरे कोने में रहती स्त्री के माध्यम से अपने शोषण की गाथा को वाणी देता है। यह उसका शोषण मात्र बाहरी नहीं है। वह तो परिवार का भी शोषण है। उसके स्वप्न मात्र पुतलियों में ही तैरते हैं और घर तथा बच्चे सूखे पत्ते की तरह काँपते हैं। तब वह अपने हाथ में कलम लेकर अपनी बात कहती हैं-

"बाहरी के दुर्दान्त
खूँखार भेड़ियों के सामने
प्यारा लगता है
घर का अपना भेड़ियाँ.....
रेशम सी मुलायम देह
परोस
मीठी नींद सुलाती है
.....
तब खिड़की खोल
डायरी उठती है
चाँदनी में लोरी की तरह
कविता गुनगुनाती है।"[71]

मुकुल कुमार ने लिखा है कि, "रणेंद्र की इन कविताओं में वह जीवन आया है, जिसकी हम सिर्फ़ बात करते अघाते नहीं हैं कविगण और बात-बेबात जिसकी चर्चा करते थकते नहीं आलोचकगण। इसमें आदिवासियों का जामुनी रंग बड़ी ढीठाई से बाँधता है दीठ को और सांवरी का सौंदर्य उव्देलित करता है काली रात से कलंक को भी दिठौना-सा धारने को। ये

[70] वही, पृ.सं.86
[71] वही, पृ.सं.81

कविताएँ 'सलवा जुडुम' के दानवी नायकों की क्रूरता के प्रति आगाह करती हैं कि इन नव 'इदी अमीनों' के फ्रिजरों का 'एक कोना भी नहीं भरा है/ ताजे नरगोश्त से' । 'थोड़ा सा स्त्री होना चाहता हूँ' शीर्षक है संग्रह का और यह थोड़ा सा स्त्री होना ही पूरा मनुष्य होना है और ये कविताएँ पाठकों को इस मनुष्य होने की ओर ले जाने की कोशिश करती हैं ।"[72]

अंत में कवि की अभिलाषा है कि-

"लेकिन इसी जनम में अपनी
सहज संगति की चाह
पूरी हो कामना अनन्तिम इसलिए
थोड़ा स्त्री होना चाहता हूँ।"[73]

3.2.4. झारखंड एन्साइक्लोपीडिया

'झारखंड एन्साइक्लोपीडिया' वाणी प्रकाशन दिल्ली से 2008 में प्रकाशित हुआ । इस एन्साइक्लोपीडिया के चार खंड है, रणेंद्र एवं उनके सहयोगी सुधीर पाल ने इन चार खंडों का संपादन किया ।

झारखंड एन्साइक्लोपीडिया आदिवासियों की गाथा है । इसमें रणेंद्र ने आदिवासियों की संस्कृति, प्रकृति, जंगल, पहाड़ इन पर हो रहे अन्याय-अत्याचार तथा शोषण का चित्रण इस झारखंड एन्साइक्लोपीडिया में किया है ।

भारतीय इतिहास की पुस्तकों में 'झारखंड का इतिहास' और उसके जननायक प्रायः अनुपस्थित हैं । सरलीकृत के रूप में कहें तो भारत के इतिहास का सामान्य अर्थ इंद्रप्रस्थ से लेकर पाटलिपुत्र तक इतिहास मात्र ही है? रणेंद्र ऐसे अनेक सवाल करते हैं । 'झारखंड

[72] वही, फ्लैप
[73]वही, पृ.सं.94

एन्साइक्लोपीडिया' भाग-1 में छोटा नागपुर का इतिहास, संतालपरगना का इतिहास, सरायकेला-खारसांवा का इतिहास, सदानों का इतिहास,1857 और झारखंड, भारत छोड़ो आंदोलन में झारखंड, हो परंपरा, टाना भगत आंदोलन आदि।

'भारत छोड़ो आंदोलन में झारखंड' शीर्षक लेख में लिखा गया है कि, "आदिवासियों के प्रारंभिक आंदोलन ब्रिटिश साम्राज्य के विकास और विस्तार के विरूध्द प्रतिक्रिया स्वरूप थे। मुंडा, मानकी, परगनैत, पाहन, संताल, खोंड, गोंड और पहाड़िया आदिवासियों के आंदोलन इसी क्रम में थे। फलस्वरूप आदिवासियों को खुश, शांत और नियंत्रित करने के लिए विभिन्न आदिवासी क्षेत्रों में ब्रिटिश अधिकारियों द्वारा अनेक कानून बनाए गए और परिषदें बनाई गई। आदिवासियों के क्षेत्रों को परिभाषित कर उनके वे क्षेत्र संरक्षित कर दिए गए। इसके बावजूद महाजनों, जमींदारों, पुलिस और अधिकारियों द्वारा आदिवासियों का शोषण जारी रहा। बंगाल,अविभाजित बिहार, उड़ीसा और मुंबई प्रेसीडेंसी में जमींदारी प्रथा और रैयतबाड़ी प्रथा के अंतर्गत आदिवासियों का शोषण हुआ। अविभाजित बिहार और उड़ीसा के आदिवासी क्षेत्रों में खूटकट्टी जमीन का पतन हो गया और आदिवासियों के सम्मुख जीवन यापन की समस्या उत्पन्न हो गई।"[74]

'झारखंड एन्साइक्लोपीडिया' खंड-2 में बिर और बुरू यानी जंगल और पहाड़। झारखंड का नाम लेते ही आँखों के सामने आदिवासी समुदाय दृष्टिगोचर होता है। क्योंकि यहाँ अधिक मात्रा में रहनेवाले मनुष्य आदिवासी ही हैं। झारखंड जन-समुदाय और संस्कृति इन्हीं जंगलों, पहाड़ों में पलती-बढ़ती आज इस मुकाम तक आ पहुँची है। ये जंगल और पहाड़ इनके आराध्य भी हैं, पालनहार भी। जंगल और पहाड़ों के साथ-साथ झारखंड के समस्त भौगोलिक विकास, परिस्थिति-परिवेश की चर्चा अपने विषय के विभिन्न विद्वान-विशेषज्ञों ने

[74] झारखंड एन्सायक्लोपीडिया, पृ.सं.148

इस खंड में की है, यथा- झारखंड की भौगोलिक संरचना, भू-आकृति, नदियाँ और प्रकृति, वनसंपदा, भूजल और भू-विज्ञान, कोयला और खनिज, कृषि एवं सिंचाई, ऊर्जा परिवहन, पथ के साथ-साथ, हाट बाजार और पर्यटन केंद्र आदि मुद्दों की चर्चा हुई हैं।

झारखंड सहित देश के अधिकांश आदिवासी बहुल इलाकों ने विकास के पूँजीवादी अवधारणा से उत्पन्न दंश को झेला है। विस्थापन एवं पलायन विकास के उप-उत्पाद के रूप में सामने आए हैं। नेहरू-वेरियर ऐल्विन के पंचशील सिध्दातों से प्रेरित होकर विकास के विभिन्न कार्यक्रम अपनाए गए उसके कारण सरकारी सेवाओं में कुछ प्रतिशत झारखंडी आबादी भी दिखने लगी है।

खंड-3 में ऐसी ही श्वेत-श्याम तस्वीरें सजाई हैं, यथा-विकास रणनीति, स्वैच्छिक संस्थाओं की भूमिका, विस्थापन-पलायन-भूमि का अवैध हस्तांतरण, भूख से सुरक्षा, छोटानागपुर एवं संतालपरगना की विशिष्ट भू-विधियाँ, शहरी गरीबी, कोयलकारों नेतरहाट फायरिंग रेंज, जादूगोड़ा, स्वास्थ्य सेवाओं की उपलब्धता, झारखंड में सिनेमा का विकास, स्त्रियों के हालात और रोजगार के अवसर, झारखंड की राजनीति और मजदूर वर्ग का आंदोलन, झारखंड का भविष्य आदि पहलुओं को इस खंड में समाविष्ट किया गया है।

झारखंड की अपनी विशिष्ट जनसंस्कृति है जो प्रकृति पर विजय नहीं बल्कि उसकी पूजा, उसके साथ सामंजस्य स्थापित करती, सामुदायिकता-सामूहिकता पर आधारित, श्रमरस में रची-बसी, उत्सवधर्मी है। जन या लोक अपने आनंद में वैसा ही उत्फुल्ला होता है जैसे प्रकृति उत्फुल्ल रहती है। व्यक्ति समूह बनकर ही आनंद का आस्वादन करता है। उत्पादन और आस्वादन दोनों का संबंध समूह से है। प्रकृति और व्यक्ति-चेतना का एकात्म-अंतस्त्राव लोक-कलाओं में रसानुभूति का संचार करता है।

संस्कृति मनुष्य की वह रचना है जिसमें मानव की सृजनात्मक शक्ति और योग्यता का चरम निहित है । यह खंड झारखंडी लोक-साहित्य, लोक-कला, लोक-संस्कृति आदि के विविधरंगी रूपों से सुपरिचित करवाने का एक विनम्र प्रयास रहा है, यथा- संताली भाषा और साहित्य, कुडुरव भाषा और साहित्य, मुंडारी भाषा और साहित्य, खड़िया भाषा और साहित्य, हो भाषा और साहित्य, कुरमाली भाषा और साहित्य, अंगिका भाषा और साहित्य, खोरठा भाषा और साहित्य, पंचपरगनिया भाषा और साहित्य, नागपुरी भाषा और साहित्य, झारखंड में हिंदी साहित्य, उर्दू साहित्य, बंगला और उड़िया साहित्य, आदिवासियों के सृष्टि मिथक एवं विश्व तत्व, आदिधर्मः भारतीय आदिवासियों की धार्मिक आस्थाएँ, झारखंड के पर्व, नृत्य, वाद्ययंत्र आदि ।

चतुर्थ अध्याय

'ग्लोबल गाँव के देवता' में आदिवासी आख्यान एवं विमर्श

4.1 'आख्यान' का अर्थ

4.2 'मिथक' से तात्पर्य

4.3 'आख्यान' से 'मिथ' में बदलना

4.4 सांस्कृतिक सत्ता का वर्चस्व

4.5 आदिवासी आख्यान एवं विमर्श

चतुर्थ अध्याय

'ग्लोबल गाँव के देवता' में आदिवासी आख्यान एवं विमर्श

साहित्य को मनुष्य का ऐतिहासिक सह-यात्री माना जाता है । साहित्य अपने युग और परिवेश के अंतर्विरोधों को उद्घाटित करता है । एक तरह से साहित्य ऐतिहासिक परिस्थितियों की उपज भी है । साहित्यकार अपने समाज के यथार्थ को अपनी कल्पना के सहारे अभिव्यक्त करता है। महान साहित्यकार की पहचान है कि वह अपने समाज और समय की अभिव्यक्ति करते हुए आनेवाली समय की चुनौतियों को भी दिखाता है। प्रेमचंद के शब्दों में साहित्य ऐसी जलती हुई मशाल है, जो सच्चाई के सहारे समाज को एक दृष्टि और दिशा प्रदान करती है।

वस्तुतः मिथक एवं आख्यान मनुष्य की मानसिक संरचना को समझने एवं संवेदनों, भावों, विचारों, अनुभवों को भाषा के अंतर्गत अभिव्यक्त करने की उपयोगी विद्या अथवा औजार है । सही मायने में मिथक मनुष्य के सामाजिक एवं सांस्कृतिक अनुभवों का वह सत्यापन है, जिसे सामाजिक स्तर पर, सामूहिक रूप से, धार्मिक विश्वासों एवं मानसिक यथार्थ के तौर पर भोगा गया है । अतः मिथक अवचेतन आकाश में मानसिक यथार्थ और अनुभव के आधार पर खड़ा किया गया वह महल है, जिस की खिड़कियों से आदिम मनुष्य की चेतना हमें झाँकती दिखाई पड़ती है।

4.1. 'आख्यान' का अर्थ

'आख्यान' शब्द को विभिन्न विद्वानों ने परिभाषित करने का प्रयास किया है । साथ ही विभिन्न कोशों में भी इस शब्द के अर्थ का प्रतिपादन करने का प्रयास किया गया है । इन सबका वर्णन इस प्रकार से हैं-

1) वैदिक कोश के अनुसार-

सूर्यकांत ने 'आख्यान' शब्द को परिभाषित करते हुए कहा है- "ऐब्रा (7.18.10.तु. शांधौसूः 15.27) में हम शुनःशेप आख्यान के विषय में सुनते हैं । वह आख्यान होतृपुरोहित द्वारा राजसूय यज्ञ के प्रसंग में जब एक वर्ष तक अश्व को स्वेच्छया घूमने के लिए छोड़ देते थे तब आख्यानों की जो श्रृंखला चलती थी, उसे परिप्लव (शब्रा 13.4.3.2,15) कहते थे । ऐब्रा(3.25.1) में आख्यानविदों का उल्लेख मिलता है, जो सौपर्ण आख्यान कहते थे, जिसे अन्यत्र (शब्रा.3.6.2.7.) व्याख्यान की एक शैली के रूप में ऐतिहासिकों के मत या आख्यान के मत का उल्लेख करते हैं(11.19.25) । तु. जीग,दी.जा.ऋ.16 एवं आगे ।"[75]

2) हिंदी साहित्य कोशः-

धीरेंद्र वर्मा ने हिंदी साहित्य कोश में लिखा है- "(आ+ख्या+ल्यूट्(अन भावे) (क) सामान्य अर्थ-1) कथन, निवेदन, उक्ति,2) कथा, कहानी,3) प्रतिवाचन, उत्तर(यथा 'अनन्त्यस्यापि,प्रश्नाख्यानयोः', 'अष्टाध्यायी'8।2।105में), ख) विशेष अर्थ-(1) भेदक (इस अर्थ में उपर्युक्त 'ल्यूट्' प्रत्यय 'भाव' ((क्रियापद से प्रकट होनेवाला कर्म) अर्थ न होकर 'करण' अर्थ में गृहित होगा, एवं 'आख्यायते अनेनेति आख्यानम्' यह व्यूत्पत्ति होगी)। इस शब्द का इस अर्थ में प्रयोग 'लक्षणेत्थम्भूताख्यानभागवीप्सासु प्रतिपर्यनवः' ('अष्टाध्यायी' 1।4।90) हुआ है (दे.तारानाथ कृत 'वाचस्पत्यम्' नामक कोश) । (2) पुरावृत्तकथन ('आख्यानं पूर्ववृत्तोक्तिः' सा.द.)- ऐतिहासिक कहानी, पौराणिक कथा। वेदों में आये हुए ऐसे ही आख्यानों का संग्रह

[75] वैदिक कोश, पृ.सं.33

'पुराणसंहिता' नाम से अथर्ववेद आदि में उल्लिखित है जैसे, सुपर्ण और पुरूरवा इत्यादि के आख्यान मिलते हैं । आख्यानानीतिहा सांश्च व्याख्यान लिखते हुए कुल्लूक भट्ट ने 'मन्वर्थमुक्तावली' में 'आख्यानानी सौपर्णमैत्रावरूणादीनि' लिखा है । (3) 'महाभारत' में इत्यादि इतिहास ग्रंथ । (अनेक आख्यानों एवं उपाख्यानों का) 'जय' नामक इतिहास ग्रंथ (वर्तमान 'महाभारत' के मूल रूप) में संग्रह होने के कारण ही परिवर्धित महाभारत को आख्यान-काव्य का नाम प्राप्त हुआ होगा । (4) इन 'महाभारत' आदि आर्ष काव्यों के सर्ग । इस अर्थ के प्रामाण्य में तारानाथ ने स्वकृत 'वाचस्पत्यम्' में निम्नलिखित श्लोक उद्धृत किया है-

"नामास्य सर्गापादेय कथया सर्गनाम तु ।

अस्मिन्नार्षेपुनः सर्गा भवनपाख्यानसंज्ञकाः ।।"

और इनका उदाहरण देते हुए "यथा भारते रामापोख्यानं, नलोपाख्यानमित्यादि" लिखा है । (ग) हिंदी में यह शब्द प्रायः प्राचीन कथानक या वृत्तांत के ही अर्थ में प्रयुक्त होता है । (घ) पर्याय- कथा, कथानक, आख्यायिका, वृत्तांत इत्यादि । (ड़) व्यापक अर्थ- कहानी, कथा और इसी अर्थ में उपर्युक्त पर्याय दिए गए हैं । इसका सीमित अर्थ है ऐतिहासिक कथानक, पूर्ववृत्त-कथन ।"[76]

3) आधुनिक हिंदी कोशः-

गोंविद चातक ने लिखा हैं "पुं.सं.1. कहने या सूचित करने की क्रिया, 2. जो कुछ कहा या सूचित किया जाय, वृत्तांत, कथा, विवरण, कहानी, प्रसंग ।"[77]

4) हिंदी पर्यायवाची कोशः-

---

[76] आधुनिक, हिंदी कोश, पृ.सं.76

[77] आधुनिक हिंदी कोश, पृ.सं.57

भोलानाथ तिवारी ने अपने हिंदी पर्यायवाची कोश में लिखा हैं- "आख्यायिका, कथा, कहानी, किस्सा, गल्प, वार्ता आदि ।"[78]

5) हिंदी विश्वकोशः-

"(सं.ल्की) आ ख्या भावे ल्युट । विभाषाख्यानपरिश्नयोरिच्। पा 3। 3.110। 1. कथन, बयान । 2. वृत्तांत, बोली । 3.कथा, किस्सा, कहानी । 4. उपन्यास विशेष । इसमें आख्याता ही अपने मुख से सब बात कहता है, पात्र के बोलने का कोयी काम नहीं । 5. प्रसिध्द आख्यान-संज्ञक सर्गयुक्त आर्ष सौपर्ण मैत्रावरूरणादि ।"[79]

6) मानक हिंदी कोशः-

"पुं.(सं आ—ख्या+ल्युट-अन)1. कहने अथवा सूचित करने की क्रिया का भाव । 2. वह जो कुछ कहा जाय । वर्णन । वृत्तांत । 3. नाटक में किसी पात्र का पिछली या पुरानी घटना का किया हुआ वर्णन या लिखा हुआ विवरण । 5. उपन्यास का एक प्रकार जिसमें उपन्यासकार पात्रों से कुछ न कहलवाकर स्वंय सब बातों कहता चलता है ।"[80]

'आख्यान' शब्द को परिभाषित करते हुए, अंततः यह कहा जा सकता है कि, 1) पुरानी कथा, कहानी, वर्णन, वृत्तांत या पुराना विवरण लोगों को ज्ञात कराना ही 'आख्यान' है । 2) उपन्यास के संदर्भ में उपन्यास में उपन्यास के पात्र कुछ नहीं बोलते, उनका पूरा-का-पूरा विवरण उपन्यासकार देते हुए आगे बढ़ता है । इसी को 'आख्यान' कहा जाता है ।

4.2. 'मिथक' से तात्पर्य

[78] हिंदी पर्यायवाची कोश, पृ.सं.59
[79] हिंदी विश्वकोश, पृ.सं.502
[80] मानक हिंदी कोश, पृ.सं.248

"'मिथक' शब्द अंग्रेजी के 'मिथ' (Myth) शब्द से गढ़ लिया गया है और उसका हिंदी प्रतिरूप बन गया है।"[81] मिथक शब्द के अर्थ को समझने के लिए अंग्रेजी शब्द 'मिथ' के मूल अर्थ की व्याख्या आवश्यक है। सामान्य व्यवहार की भाषा में 'मिथ' शब्द का अर्थ नितांत अविश्वसनीय तथा काल्पनिक कथाओं से समझा जाता रहा है। लेकिन "ग्रीक भाषा का मूल शब्द 'माइथास' (Mythos) जिससे यह शब्द निःसृत हुआ है, उपर्युक्त धारणा की पुष्टि नहीं करता है। इस मूल ग्रीक शब्द का अर्थ है- मुख से उच्चारित वाणी, मौखिक कथा।"[82]

"हिंदी में 'मिथक' के लिए 'पुरावृत्त', 'पुराकथा', 'कल्पकथा', 'देवकथा', 'धर्मकथा', 'पुराणकथा' और 'पुराख्यान' आदि अनेक शब्द प्रयुक्त होते रहे हैं। स्पष्ट है कि इनसे 'मिथ' के पूरे अर्थ का संप्रेषण नहीं हो पाता। इन प्रतिशब्दों में या तो अव्याप्ति दोष है या अतिव्याप्ति। इसलिए हिंदी में भी 'मिथक' शब्द समीचीन है।"[83] अब 'मिथक' शब्द उन काल्पनिक कथाओं का द्योतक हो गया जिन पर ऐतिहासिक तथा वैज्ञानिक दृष्टि से विश्वास नहीं किया जा सकता है। 18वीं शताब्दीं के पूर्व तक 'मिथक' मिथ्या तत्व से पूर्णतया सबंध्द कर दिया गया था। मिथक शब्द को परिभाषित करते हुए- डॉ. जगदीश प्रसाद श्रीवास्तव ने लिखा है– "मिथक मानव मस्तिष्क की विश्व- व्यापकता मानव मात्र की संरचनात्मक मूलभूत समानता के उद्घोषक हैं। विश्व और विश्व की वस्तुओं तथा इसमें रहनेवाले प्राणियों के उद्भव से संबंधित मिथक सर्वत्र प्रायः एक जैसे हैं। देवरूपों और उनके नामों में मिलने वाली अद्भूत है। इसका तात्पर्य यह नहीं कि देशगत तथा युगगत परिवर्तनों का मानवीय मस्तिष्क पर प्रभाव नहीं पड़ा करता। भौगोलिक और सामाजिक स्थितियों के विभेद छाप विभिन्न देशीय मिथकों में

---

[81] हिंदी आलोचना की पारिभाषिक शब्दावली, पृ.सं.406

[82] मिथक एक अनुशीलन, पृ.सं.11

[83] हिंदी आलोचना की पारिभाषिक शब्दावली, पृ.सं.406

लक्षित होती ही है । कथ्य केवल यह है कि मानववादी विचारणा के प्रसार में मिथक साक्ष्य प्रस्तुत करते हैं ।"[84]

'ग्लोबल गाँव के देवता' में 'आख्यान' से 'मिथ' में बदलते हुए प्रसंग को निम्न रूप में देख सकते हैं ।

4.3. 'आख्यान' से 'मिथ' में बदलना

'आख्यान' एवं 'मिथक' की परिभाषाएँ देते हुए विभिन्न विद्वानों ने विभिन्न संभावनाएँ सामने रखीं हैं । आदिम मानव, प्रकृति की शक्तियों तथा व्यापारों के रहस्यों को पूरी तरह समझने-समझाने में असमर्थ होने के कारण अपनी कल्पना के माध्यम से उन्हें देवी-देवताओं तथा अन्य अतिमानवीय शक्तियों का रूप दे देता था । आरंभिक मनुष्य की ये कल्पित अतिमानवीय शक्तियाँ कालांतर में मिथक बनकर उभरी । इस प्रकार धार्मिक विश्वास तथा मिथक में अटूट संबंध है । धार्मिक विधि-विधान से जुड़े आख्यानों ने मिथकों का रूप ले लिया । इनके पीछे उन रहस्यमयी शक्तियों को तुष्ट करके विपत्तियों से जन-समाज की रक्षा करने की भावना प्रमुख थीं ।

'ग्लोबल गाँव के देवता' एक ऐसा उपन्यास है जिसमें भारत के विशेष रूप से झारखंड के एक आदिवासी समुदाय का अपने अस्तित्व, आत्मसम्मान और अस्मिता की रक्षा के लिए लंबे संघर्ष और लगातार मिटते जाने की प्रक्रिया का संवेदनशील चित्रण है । वह समुदाय है असुर नाम के आदिवासियों का । 'असुर शब्द सुनते ही हिंदी पाठकों की कल्पना में ऐसे लोगों का चित्र उभरता है जो विचित्र, भयानक, मायावी, खूँखार, नरभक्षी और असभ्य हों तथा जिनके नाखून और दाँत बहुत बड़े-बड़े हों । असुरों का यह चित्र भारतीय साहित्य में गढ़ी गयी और प्रचारित की गयी कथाओं तथा धारणाओं की देन है । वैदिक साहित्य से शुरू होकर

[84]आधुनिक हिंदी काव्य में मिथकीय कल्पना, पृ.सं.74

रामायण, महाभारत और विभिन्न पुराणों में निर्मित असुरों की यह छवि एक ओर उनके समुदाय और जीवन के दानवीकरण और दूसरी ओर उनके जीवन के यथार्थ के मिथकीकरण का परिणाम है । प्रभूत्वशाली सत्ताएँ जिनका विनाश करना चाहती हैं उनका पहले दानवीकरण करती हैं, फिर उन पर हमला करती हैं और बाद में उनकी ज़मीन तथा जीवन पर कब्ज़ा करती हैं । भारत में यह प्रक्रिया वैदिक काल से लेकर आज तक चल रही है । यही प्रक्रिया अमेरिका में कोलंबस के समय से जार्ज बुश के समय तक, अमेरिका के मूल निवासी रे़ड इंडियन से आरंभ होकर सद्दाम हुसैन तक चलती दिखायी देती है । दानवीकरण की प्रक्रिया से जुड़ी हुई है मिथकीकरण की प्रक्रिया । मिथकीकरण की प्रक्रिया में कल्पना की मदद से यथार्थ को अयथार्थ बनाया जाता है और इतिहास को रहस्यमय। इस छल-योजना के सहारे विरोधियों के अस्तित्व की अनिवार्यता को अस्वीकार करना आसान हो जाता है । दानवीकरण और मिथकीकरण की प्रक्रिया उस बौध्दिक साम्राज्यवाद का हिस्सा है जो भौतिक साम्राज्यवाद के आगे-आगे चलता है ।

उपन्यास की दो प्रमुख विशेषताएँ हमारा ध्यान आकर्षित करती हैं । आख्यान और काव्य का मणिकांचन संयोग तथा आख्यान और विमर्श की सहयात्रा एक-दूसरे को सहयोग प्रदान करते हुए साथ-साथ चलना । उपन्यास के नैरेटर को पहले से यह धारणा थीं कि, असुर भयंकर रूप वाले, राक्षस की तरह होते हैं, जब उपन्यासकार शिक्षक के रूप में आदिवासी क्षेत्र की कन्याशाला में अध्यापन हेतु जाता है । उसे जिस व्यक्ति से मिलाया जाता है उसका नाम लालचन असुर सुन कर उसकी प्रतिक्रिया धक्कादायक थीं- “सुना तो था कि यह इलाक़ा असुरों का है, किंतु असुरों के बारे में मेरी धारणा थी ख़ूब लंबे-चौड़े, काले-कलूटे, भयानक, दाँत-वाँत

निकले हुए, माथे पर सींग-वींग लगे हुए लोग होंगे । लेकिन लालचन को देखकर सब उलट-पुलट हो रहा था । बचपन की सारी कहानियाँ उलटी घूम रहीं थीं ।"[85]

"ठीक कहते हैं । असुर सुनते दो ही बातें ध्यान में आती हैं । एक तो बचपन में सुनी कहानियों वाले असुर, दैत्य, दानव और न जाने क्या-क्या । वर्णन भी ख़ूब भयंकर । दस-बारह फीट लंबे । दाँत-वाँत बाहर । हाथों में तरह-तरह के हथियार । नरभक्षी, शिवभक्त-शक्तिशाली । किंतु अंत में मारे जानेवाले ।"[86] अन्याय, उपेक्षा एवं शोषण के शिकार ये आदिवासी अपने अतीत से अनजान नहीं हैं । रुमझुम नामक पात्र के अंदर 'हम कौन थे, क्या हो गये' का ज्ञान-दीप प्रदीप्त है- "हम वैदिक काल के सप्तसिंधु इलाके से लगातार पीछे हटते हुए आज़मगढ़, शाहाबाद, आरा, गया, राजगीर से होते हुए इस वन-प्रांतर कीकट, पौंड्रिक, कोकराह या चुटिया नागपुर पहुँचे । हज़ार सालों में कितने इंद्रों, कितने पांडवों, कितने सिंगबोंगा ने कितनी-कितनी बार हमारा विनाश किया, कितने गढ़ ध्वस्त किये, उसकी कोई गणना किसी इतिहास में दर्ज नहीं है । केवल लोककथाओं और मिथकों में हम ज़िंदा हैं ।"[87]

आदिवासी प्राचीन काल से ही अनेक वेदनाएँ सहते आ रहे हैं । आदिवासियों की स्थिति कुछ इस तरह है कि, आज यहाँ तो कल कहीं ओर । इतना होते हुए भी वे हार कभी नहीं मानते । इस संदर्भ में हरिराम मीणा की कविता दृष्टव्य है-

"हमें पता नहीं
हम बंदर की औलाद हैं
या भगवान की मंसा

---

[85] ग्लोबल गाँव के देवता, पृ.सं.11
[86] वही, पृ.सं.17
[87] वही, पृ.सं.43

मगर पैदा आदम-जात ही में हुए
नहीं छेड़ी हमने हिफाजती मुहिम
मौसमों के खिलाफ़
घर नहीं बनाये
मगर बेघर महसूस नहीं किया
रहे अपरिग्रही फिर भी धनी ।"[88]

विकास के नाम पर असुर संस्कृति के नष्ट होने का सिलसिला भले ही नवउदारवादी आर्थिक नीतियों के कारण तेज हो गया हो पर इसकी जड़ें इतिहास में कहीं गहरे धंसी हुई हैं। वैदिक काल से ही अपने पहचान की जो लड़ाई इस सभ्यता ने शुरू की वह आज तक बदस्तूर जारी हैं। सत्ता और समृद्धि ने हमेशा ही इन्हें दो कदम पीछे धकेलने की कोशिश की। असुर समाज अपनी साधनहीनता और दरिद्रता के कारण इस संग्राम में लगातार पिछड़ता ही नहीं गया बल्कि रोज किसी नये आरोप के तीर से बिंधता भी रहा। जब इन्होंने जंगलों की रक्षा करने की ठानी तो इन्हें राक्षस कहा गया। जब इन्होंने अपनी पहचान की खातिर भूमि और वन्य संपदा सुनियोजित रूप से बर्बाद करने वाली नीतियों का विरोध किया तो दुष्ट दैत्य कहलाये। संस्कृति और सत्ता का यह युध्द देवराज इंद्र के जमाने से लेकर ग्लोबल गाँव के देवताओं तक के युग में जारी है। लेकिन वैदिक युग के हज़ारों हज़ार इंद्र से भी ग्लोबल गाँव के देवता ज्यादा शक्तिशाली निकले। इसलिए रुमझुम असुर, प्रधानमंत्री को चिट्ठी लिखता है- "बीसवीं सदी की हार हमारी असुर जाति की अपने पूरे इतिहास में सबसे बड़ी हार थी। इस बार कथा-कहानी वाले सिंगबोंगा ने नहीं, टाटा जैसी कंपनियों ने हमारा नाश किया। उनकी फैक्टरियों में बना लोहा, कुदाल खुरपी, गैंता, खंती सुदुर हाटों तक पहुँच गये। हमारे गलाये

[88] आदिवासी स्वर और नई शताब्दी, पृ.सं.28

लोहे के औज़ारों की पूछ ख़त्म हो गयी । लोहा गलाने का हज़ारों-हज़ार साल का हमारा हुनर धीरे-धीरे ख़त्म हो गया ।"[89]

असुर, राक्षस या दानव की जितनी भी खराब छवि बनायी गयी हो, उन छवियों और देवासुर संग्राम जैसे मिथकों से इतना तो संकेत मिलता ही है कि वह ऐसी जनजाति थी जिसने देवताओं को कदम-कदम पर चुनौती दी । असुरों के बारे में इतिहासकारों का कहना है कि "आर्यों के भारत में आने से लगभग 400-500 वर्ष पूर्व जो असीरियन लोग सिंधु घाटी में आ बसे थे, इन्हीं लोगों को ऋग्वेद में असुर कहा गया । सच्चाई जो भी हो, यह उपन्यास इस ओर संकेत करता है कि पहले देव और असुर साथ ही रहे होंगे । ऋग्वेद के प्रारंभ के लगभग डेढ़ सौ श्लोकों में असुर देवताओं के रूप में हैं । मित्र, वरूण, अग्नि, रुद्र सभी असुर ही पुकारे जा रहे हैं । बाद में यह अर्थ बदलने लगता है और दानव के रूप में पुकारे जाने लगे ।"[90]

बहुराष्ट्रीय कंपनियों के अत्याधुनिक प्लांट में बने लोहा के उपकरणों ने आदिवासियों द्वारा लोहा गला कर बनाये गये औज़ारों के पारंपारिक बाजार का अतिक्रमण कर लिया है । असुर जाति तो एक उदाहरण या प्रतीक मात्र है, युध्द की नियति यही होती है । विजय का निर्णय न्याय-अन्याय से नहीं शक्ति और पूँजी से होता है । तभी तो युध्द और विजय की किताबी स्थापन पर व्यंग करते हुए इस उपन्यास का एक पात्र रुमझुम मुंडाओं को सिंगबोंगा की कहानी सुनाने के क्रम में कहता है- "युध्द में विजय उसे मिलती है जो ज्यादा हिंसक, ज्यादा बर्बर और ज्यादा कुशल प्रशिक्षित होता है ।"[91]

उपन्यासकार ने केवल भारत के ही आदिवासी नहीं, बल्कि विश्व के आदिवासियों पर होनेवाले अन्याय, अत्याचार, शोषण का चित्रण किया है । असुर समुदाय की गाथा सुनाते हुए

---

[89] ग्लोबल गाँव के देवता, पृ.सं.83

[90] वही, पृ.सं.83

[91] वही, पृ.सं.47

उपन्यासकार को "प्राचीन अमेरिका के इंका, माया, एज्टैक और सैकड़ों अन्य रेड इंडियंस याद आये ।"[92]

जो इन लोगों की तरह ही असुर समुदाय को खदेड़ा जा रहा है । असुर समाज बदहाल ज़िदगी गुज़ारता नजर आ रहा है- संस्कृति विहिन, भाषाविहिन, साहित्यविहिन, धर्मविहिन । आज भारत एक विकसित राष्ट्र बनने जा रहा है, लेकिन आदिवासियों कि स्थिति जैसी-की-तैसी दिखाई देती है । इस संदर्भ में उपन्यासकार कहता है- "छाती ठोंक-ठोंककर अपने को अत्यंत सहिष्णु और उदार कहनेवाली हिंदुस्तानी संस्कृति ने असुरों के लिए इतनी भी जगह नहीं छोड़ी थी । वे उनके लिए बस मिथकों में शेष थे । कोई साहित्य नहीं, कोई इतिहास नहीं, कोई अजायबघर नहीं । विनाश की कहानियों के कहीं कोई संकेत मात्र भी नहीं ।"[93]

इन असुर आदिवासियों को दुष्ट, अहंकारी कहकर भगवान सिंगबोंगा ने इन्हें अनेक यातनाएँ दी । "अंत में उन अहंकारी-दुष्ट असुरों को सज़ा देने स्वयं भगवान सिंगबोंगा ने चर्म रोगवाले लड़के का भेष बदला । लुटुकुम बूढ़ा और लुटुकुम बुढ़िया के यहाँ धाँगर-नौकर बनकर रहने लगे । रहते-रहते चालाकी से लालची असुरों को सोने-चाँदी के लालच में उन्हीं की भट्ठी में जलाकर मार डाला । लौटने को आकाश की ओर बढ़े तो असुर औरतें उनके पैरों में लटक गयीं । तब सिंगबोंगा भगवान ने पैरों को ऐसे झटका कि वे जहाँ-तहाँ पहाड़-जंगल-झरना-नदी में गिरीं और भूत बनकर रहने लगीं ।"[94]

आधुनिक मार्क्सवादी आलोचक मैनेजर पांडेय ने कहा है- "भारतीय समाज और संस्कृति के इतिहास लेखन में भारत के आदिवासी समाजों और उनकी संस्कृतियों को कोई जगह नहीं है, न उनके होने का उल्लेख होता है, न उनके विनाश का इतिहास । लेकिन

---

[92] वही, पृ.सं.47े

[93] वही, पृ.सं.33

[94] वही, पृ.सं.43

आदिवासी जीवन पर लिखा गया कोई भी सार्थक उपन्यास उनके जीवन और संस्कृति के इतिहास की उपेक्षा नहीं कर सकता। उपन्यास वह साहित्य रूप है जो मनुष्य को इतिहास के आतंक से मुक्त करता हैं। वह ऐसा इतिहास से युक्त करता है, इतिहास से मुक्त होकर नहीं। इस संदर्भ में मिशेल जेराफ ने ठीक ही लिखा है कि, मिथक में मनुष्य सामाजिक तो होता है लेकिन उसकी कथा में देवताओं और जादुई तत्वों का हस्तक्षेप भी होता है। उपन्यास के साथ समाज इतिहास में और इतिहास समाज में प्रवेश करता है।"[95]

असुर समाज बढ़ती गरीबी और भूख के कारण उस समुदाय की जवान लड़कियों में संपन्न ज़मीदारों, नौकरशाहों, खदान के मालिकों, पुलिस तथा प्रभावशाली कारिंदों की रखैलों के रूप में उनके हाथों का खिलौना बनने का दृश्य भी है- "गिरफ्तारी के बहाने घरों में घुसते हैं और बेटी-बहुओं का दुरगिंजन करते हैं।"[96] इस स्थिति से असुर समुदाय के लोग चिंतित एवं बेचैन है। जिसकी अभिव्यक्ति एक गीत में हुई हैं-

"काठी बेचे गेले असुरिन,

बाँस बेचे गेले गे,

मेठ संगे नजर मिलयले गे,

कचिया लोभे कुला डूबाले,

रूपया लोभे जात डूबाले गे।।"[97]

इस गीत में आलोचना है, शिकायत है और विलाप भी है।

---

[95] नया ज्ञानोदय, पृ.सं.16

[96] ग्लोबल गाँव के देवता, पृ.सं.81

[97] वही, पृ.सं.38

राज्य का सबसे आलिशान स्कूल इन्हीं इलाकों में है। पाथरपाट स्कूल जिसमें राज्य के सबसे मेधावी लड़के पढ़ते हैं, इतना विशाल है कि उसमें भौंरापाट जैसे दो-तीन गाँव समा जाएँ। असुरों के सैकड़ों स्कूलों को उजा़डकर इस स्कूल की नींव पड़ी थी पर पिछले तीस सालों में असुर जाति के एक भी बच्चे को इस स्कूल में पढ़ने का मौका ना मिला।

"आदिवासियों के सौ से ज्यादा घरों को उजाड़कर बना था यह स्कूल। अभी भी आस-पास असुर आबादी है। ज़्यादा दूर नहीं, बीस-बाईस किलोमीटर के दायरे में लगभग सारी की सारी असुर, बिरजिया, कोरबा आबादी बसती है। पिछले तीस वर्षों का रजिस्टर उठाकर देख लीजिए जो एक भी आदिम जाति परिवार के बच्चे ने इस स्कूल में पढ़ाई की हो। मैंने ख़ुद कितनी कोशिश की थी। पिछले दो-तीन वर्षों से कैजुअल शिक्षक के रूप में काम करने की इच्छा है। लेकिन वहाँ भी दाल नहीं गलती। आख़िर हमारी छाया से भी क्यों चिढ़ते हैं ये लोग ? माड़-भात खिलाकर, अधपढ़-अनपढ़ शिक्षकों के भरोसे, फुसलावान स्कूल के हमारे बच्चे, ज़्यादा-से ज़्यादा स्किल्ड लेबर पिऊन, क्लर्क बनेंगे, और क्या ? यही हमरी औक़ात है। हमारी ही छाती पर ताजमहल जैसा स्कूल खड़ा कर हमारी हैसियत समझाना चाहते हैं लोग।"[98] तो ग्लोबल गाँव के देवता इसी किस्म का विकास करते हैं और जब असुर-आदिवासी अपने हक की आवाज उठाते हैं तो उन्हें नक्सली, आतंकवादी आदि ठप्पे लगाकर मार भगाया जाता है- "पाथरपाट में हुए पुलिस मुठभेड़ में छह नक्सली मारे गये। मारे गये नक्सलियों में कुख्यात एरिया कमांडर बालचन भी शामिल। फिर बालचन के नृशंस कारनामों का विवरण। किस एस.पी., दरोगा की हत्याओं और किन-किन बैंक डकैतियों में वह शामिल रहा था। एकदम आँखों देखा विवरण। अंत में इस बात का भी उल्लेख था कि भागते

[98] वही, पृ.सं.19

समय नक्सली लाशें उठा ले गये। पुलिस फोर्स लाशों की तलाश कर रही है।"[99] इसी तरह अखबार, रेडियो और टेलीविज़न आदि जनसंचार के माध्यम सरकार की साख (गवाह) और पूँजी की सत्ता को मजबूत बनाते हैं।

राज्य का जंगलों पर कब्ज़ा, उससे आदिवासियों की तवाही और उस सबका आदिवासियों द्वारा प्रतिरोध ब्रिटिश उपनिवेशवाद के परिवेश में भी जारी था। उपनिवेशवादी सत्ता लोभ और लूट के इरादों से जंगलों को हथियाने और उसका विरोध करने वाले आदिवासियों को दबाने का निरंतर प्रयत्न करती रही। अँग्रेज अधिकारी आदिवासियों को बदमाश, हिंसक, अर्द्ध बर्बर, अधार्मिक और असभ्य कहते थे। उन्होंने लूट की प्रक्रिया को अधिक व्यापक बनाने के लिए मैदानी भागों से लोगों को लाकर जंगलों के आस-पास बसाना शुरू किया ताकि उनके सहयोग और समर्थन से जंगल के संसाधनों का शोषण और आदिवासियों का दमन संभव हो- "वन विभाग ने खतियान में दर्ज सैंतीस वन-गाँवों को खाली करने की नोटिस दिया है। क्या तो भेड़िया सबको बचाने के लिए कोई योजना है। क्या तो अभयारण्य बोल रहे है। ई सैंतीस वन ग्राम में बाइस गाँव असुरों का है, बाकी उराँव, खेरवार और सदान लोगों का।"[100]

इन सबके परिणाम स्वरूप अनेक आदिवासी विद्रोह हुए- "आज़ादी के बाद भारत की केंद्रीय सरकारों ने अँग्रेजों से केवल सत्ता ही नहीं पायी, उसके साथ शासन करने का ढंग भी सीखा, इसलिए आदिवासियों का शोषण और दमन पहले की तरह आज भी चल रहा है।"[101]

इस उपन्यास के संदर्भ में मार्क्सवादी आलोचक मैनेजर पांडेय कहते हैं कि- "ग्लोबल गाँव के देवता टोनी मारिसन की कथादृष्टि की परंपरा का उपन्यास है, जिसमें असुर समुदाय

---

[99] वही, पृ.सं.19

[100] वही, पृ.सं.78

[101] नया ज्ञानोदय, पृ.सं.14

के जीवन और संस्कृति के अदृश्य इतिहास की भूली-बिसरी पगडंडियों के ज्ञान और उस समुदाय के स्त्री पुरूषों की जिंदगी की यातनाओं के प्रति गहरी संवेदनशीलता के ताने-बाने से बुना हुआ आख्यान है ।"[102]

अंततः इस उपन्यास के संदर्भ में युवा आलोचक राकेश बिहारी कहते हैं कि- "ऐतिहासिक संदर्भों के साथ पूरी प्रामाणिकता से उठाने वाले इस उपन्यास से साथ यह अन्याय होगा यदि इसे असुर संस्कृति के जीवन का चित्रण करने वाला उपन्यास भर कहा जाए ।"[103]

4.4 .सांस्कृतिक सत्ता का वर्चस्व

संस्कृति, सभ्यता और सत्ता बड़ी शक्तिशाली अवधारणाएँ हैं । उनकी ज़ड़ों में मिथक भी होते हैं और ऐतिहासिक अनुभवों की जातिय-स्मृतियाँ भी । संघर्ष और हिंसा के बीज हमारी समाज-रचना और संस्कृति में आरंभ से ही रहे हैं- आंतरिक अंतर्विरोधों के रूप में । पहले उन्हें दर्शन और धर्म ने नियंत्रित किया, बाद में ऐसे सांस्कृतिक आंदोलनों ने, जिसकी परिणति भक्ति के किसी स्परुप में हुई ।

संस्कृति और सत्ता के अंतःसंबंधों पर लंबे समय से गंभीर बहस चल रही है । विचारकों का एक सशक्त और मुखर वर्ग संस्कृति की स्वायत्तता का समर्थक है, उसे संस्कृति के क्षेत्र में सत्ता का कोई हस्तक्षेप स्वीकार नहीं । सच तो यह कि संस्कृति या सत्ता का प्रारूप अनुभवजन्य मानव निर्मित है और जीवन के बदलते संदर्भों में निरंतर उसकी पुनर्रचना की जाती है । पिछले तीन-चार दशकों में विश्वव्यापी धरातल पर सांस्कृतिक चेतना का विस्फोट हुआ है और कहीं-कहीं तो सांस्कृतिक माँगों ने बड़ा आक्रामक रूप धारण कर लिया है । सम-सामायिक जगत् में दो विपरित प्रवृत्तियाँ लक्षित हो रही है- एक ओर जन-संचार-साधनों के विकास से धरती सिमटकर विश्व गाँव(ग्लोबल विलेज) बनती जा रही है, तो दूसरी ओर

---

[102] नया ज्ञानोदय, पृ.सं.14

[103] वही, पृ.सं.14

प्राचीन और नवजात, बड़ी और छोटी सांस्कृतिक अस्मिताएँ स्वायत्तता के लिए संघर्षरत हैं। सांस्कृतिक और राजनीतिक आकांक्षाओं के नये समीकरण उभर रहे हैं- उनके उलझाव और तनाव विश्व-व्यवस्था में नयी विसंगतियों और विकृतियों को जन्म दे रहे हैं। भारत में भी ये विघटनकारी प्रवृत्तियाँ अस्थिरता उत्पन्न कर रही है।

वर्तमान समय में भारत के आदिवासी समुदायों के सामने एक खतरा उन्मूलन का है और दूसरा अनुकूलन का। उन्मूलन का अर्थ है- अस्तित्व को खोकर दूसरे धर्मों, संस्कृतियों और समाजों में विलय । उन्मूलन का खतरा सत्ता की ओर से है तो अनुकूलन का धर्मों की ओर से। ईसाई धर्म को आदिवासियों पर लादने का प्रयास दक्षिण अमेरिका में हुआ था । उत्तर अमेरिका में भी और आफ्रिका में भी । भारत में उपनिवेशवाद के काल में अँग्रेजों ने आदिवासियों के विरोध को शांत करने के लिए ईसाई मिशनरियों को आमंत्रित किया था। "उपनिवेशवादियों की इच्छा पश्चिम में प्रसार कर कपास उगाने की थी । जेफर्सन और मेडीसन के राष्ट्रपतित्व काल में इंडियनों पर भूमि अर्पण करने संबंधी तिरेपन संधियाँ लादी गयीं। जबरन लादी संधियों का उल्लंघन भी हर बार साम्राजवादियों ने ही किया। अतिक्रमण का दबाव कभी कम नहीं हुआ। अपना अस्तित्व बचाने के लिए 1811 ई. में शाहनी जनजाति के प्रधान तेकमसेह और उसके भाई फ्रोफेट ने इंडियनों का एक महासंघ बनाया । किंतु टिप्पोकेनोय की लड़ाई में उन्हें हार का मुँह देखना पड़ा।"[104]

उपन्यासकार आदिवासियों की संस्कृति को प्रकृति में देखते हुए लिखते हैं- "दिवारें पहले काली मिट्टी से जतन से लीपी जातीं। कमरों के फ़र्श को भी काली मिट्टी डालकर चिकने पत्थर से इतना रगड़ा जाता कि, वह चिकने-चुपड़े सीमेंट के फ़र्श का भ्रम देता। दीवारों पर काली मिट्टी के लेप सूखने के बाद उन पर सफ़ेद मिट्टी का लेप चढ़ाया जाता। फिर पूरी हथेलियों को नचा-नचाकर एक वृत्ताकार आकृति उभारी जाती, जिनमें उनकी हथेलियों की

[104] ग्लोबल गाँव के देवता, पृ.सं.44

छाप झलक मारती। यह अद्भूत हथेलियों की छापवाले चित्र न केवल दरो-दीवार पर बल्कि खेतों-खलिहानों, जंगल-बगानों, खानों, नदी-नालों, चुआँ, पझरा, सोतों, झरनों में हर कहीं दिखाई देते। कभी लगता, यह धरती, सूरज, चाँद, सितारे, कई-कई सूरज, कई-कई चाँद, हमारी पूजा ब्रम्हांड हमारी अपनी आकाशगंगाओं और पूरे कायनात की लाखों-करोड़ों आकाशगंगाओं के अनंत ब्रम्हांड, सबके सब किसी स्त्री की हथेलियों से घुमेर लेकर आदि-अनंत काल से नाचते जा रहे हैं। इस अलौकिक नाच पर भी एक स्त्री की ही घूमती हथेलियों की छाप है।"[105]

राज का जंगलों पर कब्ज़ा उससे आदिवासियों की तबाही और उस सबका आदिवासियों द्वारा प्रतिरोध ब्रिटिश उपनिवेशवाद के परिवेश में भी जारी था। उपनिवेशवादी सत्ता लोभ और लूट के इरादों से जंगलों को हथियाने और उसका विरोध करने वाले आदिवासियों को दबाने का निरंतर प्रयत्न करती रही। इसलिए उपन्यास का पात्र रुमझुम कहता है- "अंगिरा ऋषि भी अपने को आग से उत्पन्न बताते हैं और अंगरियों की पैदाइश आग से ही हुई है। यह अंगिरा ही हैं जिन्होंने सबसे पहले आग की खोज की थी। आग की खोज और देवताओं से लड़ाई की कहानी कई जगह प्रचलित है। ग्रीक कथाओं में भी प्रमथ्यू स्वर्ग से आग चुराकर लाता है तो देवता उसे सज़ा देते हैं। सिंगबोंगा-सूर्य देवता द्वारा असुरों को सज़ा देने की कथा प्रचलित है। किंन्तु यह सुर-असुर लड़ाई एक जटिल पहेली है। कभी हम लोग स्थिर बैठकर इसे सुलझाएँगे। क्या यह पाषाणकालीन लोगों का धातु पिघलाने वाले लोगों से संघर्ष था ? सुर में 'सु' शामिल है जिसका अर्थ उत्पादन होता है। इसलिए क्या जंगलों को काटकर उत्पादन यानी खेती करनेवालों और सखुआ पेड़ के कोयले पर आश्रित लोहा पिघलाने वालों के बीच की लड़ाई है। विष्णु के कई अर्थ हैं जिनमें फैलनेवाला और यज्ञ भी है। जंगल की आग तेज़ी से फैलती है। झूम खेती जंगलों को काटकर और जलाकर ही की

[105] वही, पृ.सं.23

जाती रही है। स्वाभाविक है, जो लोग भोजन और रोज़गार के लिए जंगल पर निर्भर रहे होंगे उन्हें जंगलों का जलाया जाना अखरता होगा, चाहे उसे यज्ञ कहिए या विष्णु कहिए क्या फ़र्क पड़ता है। यह लड़ाई का कारण बना होगा।"[106]

'ग्लोबल गाँव के देवता' के दो आकर्षक पहलू यह है कि इसमें असुर समुदाय की अस्मिता के पक्षों का चित्रण किया है। असुर समुदाय प्रकृति की पूजा करता है। वह अपने आस-पास की प्रकृति के विभिन्न रूपों से गहरी अंतरंगता अनुभव करता है और उनके गुणों को आत्मसात भी करता है, इसलिए असुरजनों के व्यक्तित्व में चट्टान की दृढ़ता, नदी की तरलता और हवा की गति की एकता मिलती है। असुर समाज में दूसरा आकर्षक पहलू यह है कि, इस समाज में प्रकृति एवं नामकरण पध्दति को बड़ा महत्व दिया जाता है- "बैगा-पुजार-पाहन, पर्व-त्योहार, नक्षत्र-काल, देख सरना-स्थल पर पूजा-पाठ करते। पाट देवता, सरना माई, महानदियाँ, सिंगबोंगा, गाँव-घर पर प्रसन्न रहते। खेत-खलिहान, गाय-गरू, बाल-बच्चा, परिवार-टोला सबका कुशल मंगल हो, यही हर पूजा की कामना होती। गाँव के सीमान के देव, दरहा की पूजाकार गाँव निश्चिंत होकर सोता। पितर-पूर्वज को तो लोग हर वक्त याद करते। नये जन्मे बच्चे के नामकरण के समय पितर-पूर्वज न केवल याद किये जाते बल्कि विश्वास था कि वे सबके-सब उपस्थित रहते। दोना के पानी में पूर्वजों का नाम ले-लेकर चावल के दो-दो दाने ड़ाले जाते। जिनके नाम से दाने पड़ते और डूब जाते तो यह माना जाता कि वह पितर बच्चे को अपना नाम देने को इच्छुक नहीं। जिनके नाम से डाले गये दाने न केवल पानी में तैरते बल्कि उनके सिरे भी सर जाते, तो उसी पितर का नाम बच्चे को मिल जाता।"[107]

---

[106] वही, पृ.सं.18

[107] वही, पृ.सं.29

असुर समाज समतावादी और भेदभाव से मुक्त समाज है । उस समाज का जीवन लोकतांत्रिक है सामाजिक भी । असुरों के प्रत्येक गाँव के बीच में या बाहर एक आखाड़ा होता है, "जहाँ गुरुवार के दिन गाँव के सारे बुजुर्ग, समझदार, सयाने बैठते और गाँव घर-समाज की समस्या पर बतियाते हैं ।"[108]

वहाँ पुरुष के साथ-साथ स्त्रियाँ भी होती हैं और प्रकृति के साथ संस्कृति भी । बहस के बाद नृत्य का कार्यक्रम भी चलता है । आखाड़ा असुर समुदाय के सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन का केंद्र भी है । उपन्यासकार ने असुर समुदाय में मौजूद उन अंधविश्वासों का भी उल्लेख किया है जिनके कारण लोग तबाह होते हैं- "दरअसल अब भी कुछ लोगों के मन में यह बात बैठी हुई है कि धान को आदमी के ख़ून में सानकर बिचड़ा ड़ालने से फ़सल बहुत अच्छी होती है । इसलिए इस सीजन में मुड़ी-कटवा लोग घूमते रहते हैं ।"[109]

असुर समाज में स्त्री-पुरुष के बीच समानता है और स्त्री अपना सहज जीवन जीने के लिए स्वतंत्र है । उपन्यासकार के शब्दों में "महिलाएँ इस समाज में सियानी कहलाती थीं, जनानी नहीं । जनानी शब्द कहीं-न-कहीं केवल जनन देने की प्रक्रिया तक उन्हें संकुचित करता, जबकि सियानी शब्द उनकी विशेष समझदारी-सयानेपन को इंगित करता मालूम होता ।"[110]

असुर समाज में स्त्री-पुरुष के बीच प्रेम का विकसित होना मुख्यधारा की तरह गुनाह नहीं माना जाता बल्कि वह उत्सव का अवसर होता है । आज कल बड़े शहरों में विवाह की रूढ़ियों से मुक्त होकर स्त्री-पुरुष एक साथ रहते जीते हैं जिसे क़ानून की भाषा में 'लिविंग टुगेदर' कहा जाता है । इस उपन्यास की नायिका ललिता कहती है-"आदिवासी समाज में तो

---

[108] वही, पृ.सं.26

[109] वही, पृ.सं.12

[110] वही, पृ.सं.23

यह बहुत पुराने दिनों से मान्य है । विवाह में किसी भी तरह की कठिनाई आ रही हो, तो लड़का-लड़की साथ-साथ रहना शुरू कर देते हैं । लेकिन बेटा-बेटी की शादी के पहले शादी की रस्म निभानी पड़ती है । यह ज़रूरी है । कभी-कभी एक ही मड़वे पर माँ-बाप शादी करते हैं, बाद में बेटा या बेटी की शादी होती है । आर्थिक कठिनाई से अगर साथ रह रहे हों तो विवाह का ख़र्च इकट्ठा होते शादी की रस्म पूरी कर ली जाती है । इसलिए यह लिविंग टुगेदर का फ़ैशन यहीं से उतरकर वहाँ गया है ।"[111]

संगीत और नृत्य आदिवासी संस्कृति की सहज विशेषता है, जिसमें स्त्री-पुरुष के बीच के राग, प्रकृति से अनुराग और जीवन से प्रेम की सहज अभिव्यक्ति होती है । इस उपन्यास में एक उत्सव पर आयोजित झूमर नाच की गति, लय और प्रभाव का बिंबात्मक चित्रण इस प्रकार है- "अर्ध्दवृत्ताकार में झुककर कुछ क़दम आगे बढ़ाना फिर सिर उठाकर पीछे हटना । मानो हरे-भरे धान के खेत में हवा बह रही हो और फ़सल हवा के संग झूमकर झुक रही हो, उठ रही हो । मानो बाँस का जंगल तेज हवा के साथ लचक-लचक कर किलोल कर रहा हो । मानो नदियों की लहरें धीमी लय में गीर उठ रही हों । आकाश में पंछी, समूह उड़ान भरते घोंसले को वापस जा रहे हों । प्रकृति ख़ुद अपने आदिम रूप में पूरे ब्रम्हांड के दिव्य नाच के साथ एकाकार हो रही थी । चाँद डूबने लगा था । रात ओस में डूब, भीगे कंबल की तरह वजनी हो रही थी । सब झूम रहे थे ।"[112]

संस्कृति के क्षेत्र में सत्ता का हस्तक्षेप प्रत्यक्ष और परोक्ष रूपों में निरंतर होता रहता है । समसामायिक विश्व में विकास के संदर्भ में, विज्ञान और प्रविधि की अनेक महत्वकांक्षी योजनाएँ बड़े पैमाने पर लागू की जा रही हैं । जनसंचार के साधन सत्ता से अपनी समीकरण स्थापित करते हैं । इनमें कुछ समाचार-पत्र और अन्य नियतकालिक प्रकाशन-अपने लिए

[111] वही, पृ.सं.76

[112] वही, पृ.सं.78

समर्थक की भूमिका चुनें या प्रतिपक्ष की, सत्ता की सहायता की आवश्यकता उन्हें भी होती है। रेडियो और टेलीविजन जैसे संचार-माध्यमों का कई देशों में सत्ता से सीधा सरोकार होता है। इस संदर्भ में श्यामाचरण दुबे कहते हैं- "जनसंचार के माध्यमों के तीन मुख्य प्रकार्य हैं- मनोरंजन, सूचना और शिक्षा। तीनों संस्कृति को प्रभावित करते हैं। कालांतर में ये माध्यम स्वयं संस्कृति के प्रभावी अंग बन जाते हैं और परंपरा तथा समाज के बीच मध्यस्थता करते हैं।"[113]

उपन्यासकार यह जानता है कि, जब से भारत में पूँजीवाद का भूमंडलीकरण आया है तब से पूरे देश के आदिवासी समुदायों का सब कुछ, उनकी प्रकृति, संस्कृति और जिंदगी, खतरे में हैं इसलिए वे सभी आत्मरक्षा के लिए लड़ रहे हैं। इस उपन्यास में छत्तीसगढ़, मणिपुर, केरल, महाराष्ट्र और मध्यप्रदेश के आदिवासियों के संघर्षों की ओर संकेत है और उन सभी संघर्षों में स्त्रियों की नेतृत्वकारी भूमिका और बहादुरी के प्रति गहरा सम्मान व्यक्त हुआ है। इन आदिवासियों की लड़ाई अपनी धरती को बचाने की लड़ाई है, इसलिए उपन्यासकार सोचता है कि- "धरती भी स्त्री, प्रकृति भी स्त्री, सरना माई भी स्त्री और उसके लिए लड़ाई लड़ती सत्यभामा, इरोम शर्मिला, सी.के.जानू, सुरेखा दलवी और यहाँ पाट में बुधनी दी और सहिया ललिता भी स्त्री। शायद स्त्री ही स्त्री की व्यथा समझती है। सीता की तरह धरती की बेटियाँ-धरती में समाने को तैयार।"[114]

---

[113]समय और संस्कृति, पृ.सं.83

[114]ग्लोबल गाँव के देवता, पृ.सं.92

आदिवासियों के जीवन संघर्ष एवं संस्कृति को रेखांकित करते हुए मुकुल कुमार ने लिखा है कि, "आग और धातु खोज करने वाली, धातु पिघलाकर उसे आकार देनेवाली कारीगर असुर जाति को सभ्यता, संस्कृति, मिथक और मनुष्यता सबने मारा है।"[115]

इस आदिवासी संस्कृति को भी मुख्य धारा निगल जाना चाहती है। यथा-

"बदहाल ज़िदगी गुज़ारती, संस्कृतिविहीन, भाषाविहीन, साहित्यविहीन, धर्मविहीन। शायद मुख्यधारा पूरा निगल जाने में ही विश्वास करती है।"[116]

4.5. आदिवासी आख्यान एवं विमर्श

भारत विभिन्न जाति-जनजाति, धर्म-पंथों और संस्कृति संप्रदायों का देश है। जाति-व्यवस्था भारतीय समाज- व्यवस्था का प्राण-तत्व है। सैकड़ों वर्ष बीत गए पर वर्तमान समय में आदिवासियों को देखने का नजरिया जैसे-का-वैसा ही है। जैसे- असुर, दानव, राक्षस, पिशाच तथा दैत्य ऐसे अनेक नामों से पहचाना जाता है। इतना ही नहीं अपने धार्मिक ग्रंथों में भी जैसे- रामायण, महाभारत। रामायण की भीलनी, शबरी तथा महाभारत का एकलव्य ये चरित्र भारतीय समाज-जीवन में सहानुभूति तथा आदर का हास्यास्पद दिखावा भर हैं।

'ग्लोबल गाँव के देवता' में उपन्यासकार ने ऐसे ही चित्रों को दिखाया है। जो हज़ारों सालों से सहते आ रहे अन्याय, अत्याचार, का रूप वर्तमान में भी दिखाई देता है। इसलिए रुमझुम नामक पात्र मास्टर से कहता है- "हमारा बॉक्साइट यहाँ से डेढ़-दो सौ किलोमीटर दूर जहाँ प्रोसेस होकर अल्युमिनियम में ढलता है, वह जगह सिल्वर सिटी आफ इंडिया कहलाती है।"[117]

---

[115] वही, फ्लैप

[116] वही, पृ.सं.42

[117] वही, पृ.सं.16

प्रो.टी.मोहन सिंह ने आदिवासियों के प्राकृतिक संसाधनों, जनसंख्या को तथा उनके जीवनमूल्य को बताते हुए लिखा हैं- "हमारे संविधान ने राष्ट्र के सभी नागरिकों को समानता, सामाजिक न्याय, सर्वांगीण विकास का आश्वासन दिया है किंतु अधिकांश आदिवासियों के जीवन के अवलोकन से ये बातें निरर्थक लगने लगती हैं। आदिवासी संपूर्ण भारत में हैं इनकी संख्या लगभग 8 करोड़ है। यह देश की जनसंख्या का 7-8 % हैं। पूरे देश में आदिवासी समुदायों की संख्या 600 से अधिक है। देश के 72 % वनज और अन्य प्राकृतिक संसाधन.90 % कोयला-खदान, 80 % खनिज संपदा आदिवासी इलाकों में है। फिर भी 85 % आदिवासी गरीबी की रूपरेखा के नीचे गुज़र बसर कर रहे हैं। देश के कुल बंधुआ मजदूरों में 83 % मज़दूर आदिवासी हैं, क्या यह आश्चर्यजनक बात नहीं है ? सरकारों द्वारा प्राकृतिक संसाधनों का दोहन, ज़मीन और जंगल से आदिवासियों की बेदखली, उनकी सामुदायिक आर्थिक व्यवस्था का नाश आदि कारणों से आज भी आदिवासी पिछड़े हुए हैं।"[118]

प्रो.अर्जुन चव्हाण ने - आदिवासी विमर्श के संबंध लिखा है- "इक्कीसवीं सदी के प्रथम दशक के भारत का यह कडुआ सच है कि यहाँ करीबन हर छठा व्यक्ति आदिवासी है। पढ़ने, सुनने और गिनने पर यह भयंकर दुखद तथा त्रासद सच है कि हमारे यहाँ एक ऐसा समाज है जो दलितों से भी अधिक दयनीय जिंदगी जीने के लिए अभिशप्त है। भारतीय समाज उसे आदिवासी नाम से जानता है। न यह वह समाज है जो सबसे अधिक वंचित, उपेक्षित और अभावग्रस्त जीवन जी रहा है।"[119]

इस उपन्यास के माध्यम से यह भी परिलक्षित होता है कि, आदिवासी समाज के बच्चों की पाठशालाएँ किस तरह की होती हैं- आधी-अधूरी बिल्डिंग, जैसे-तैसे बना हास्टल, मुर्गीखानों जैसा शिक्षक आवास। जहाँ साफ़-सफ़ाई होनी चाहिए वहीं सबसे ज़्यादा गंदगी।

---

[118] संकल्य, पृ.सं.5

[119] विमर्श के विविध आयाम, पृ.सं.184

इन आदिवासी स्कूलों में कभी झाड़ू-पोंछा नहीं लगता । इन स्कूलों की देखरेख के लिए कोई तैयार नहीं पर मेस के ख़रीदारी के लिए मारामारी । इन सब के विरोध में कोई कुछ कहें तो उन लोगों के मुख से निकलती है- "इन मकई के घट्टा खाने वालों को यहाँ भात-दाल मिल जाता है, वही बहुत है । आप अपने हिसाब से क्यों नहीं सोचते हैं ? कौन इन्हें अपने घरों में खीर-पूड़ी भेंटाता है कि आप मेस-व्यवस्था में सुधार के लिए मरे जा रहे हैं ।"[120]

इस उपन्यास में आदिवासियों की सबसे बड़ी चिंता यही है कि उनकी ज़मीन और बेटियाँ उनसे छीनी जा रही हैं । यह चिंता इस उपन्यास में बार-बार दोहराई गई है- "पाट के दो दर्जन से ज़्यादा खदानों के मेठ-मुंशी सब बाहरवाले थे । किसी ने परिवार नहीं रखा था । सबको डेरा में काम के लिए असुर लड़कियाँ ही चाहिए थीं । क्यों चाहिए यह बताने की ज़रूरत थोड़े है ।"[121]

अनपढ़ आदिवासियों की ज़मीन एक कागज पर ठप्पा लेकर हड़प करना ही इन खदान मालिकों का रवैया था । तब सोमा अपनी बाबा की शिकायत लेकर आती है-" मोटा-मोटी बात यह थी, कि सोमा के बाबा ने एक एकड़ खेत मात्र पाँच हज़ार रुपये में एक खदान के दलाल को दे दिया था । बिना घर में बात विचार किये बिना, जवान-जहान बेटे के भविष्य का ख़्याल किये, सादे क़ागज़ पर ठप्पा लगाया, क्यों? सवाल बाबा का नहीं था । जिसे देखो, वही फुसलावन-लस्सा लगावन के चक्कर में पड़ रहा था ।"[122]

आदिवासी विमर्श के संदर्भ में किशन कालजयी ने कहा है कि, "आदिवासी के संस्कृति को नष्ट करने का जो सिलसिला पंद्रहवीं और सोलहवीं शदाब्दी में प्रारंभ हुआ वह 1990 के बाद भूमंडलीकरण के दौर में और ज्यादा तेज हुआ और आज आदिवासी समाज पर जिस तरह के

---

[120] वही, पृ.सं.20

[121] वही, पृ.सं.26

[122] वही, पृ.सं.26

चौतरफे (सामाजिक, सांस्कृतिक, शैक्षणिक, राजनैतिक और आर्थिक) हमले हो रहे हैं, कहा जा सकता है की यह बर्बरता की पराकाष्ठा है ।"[123]

यह उपन्यास आदिम जन-जातियों और आदिवासियों के जीवन-संघर्ष की रचनात्मक गाथा है । सहज भाषा सर्जनात्मक शैली और ज्ञानवर्धक विवरण से युक्त गाथा वनवासियों के अंतरंग-जीवन के मार्मिक प्रसंगों को उद्घाटित करती हुई हमारी संवेदना को झकझोरती है और हमसे सक्रिय सहानुभूति की मांग करती है । अपनी जिजीविषा और अस्तित्व के लिए झारखंड के बहाने देश-भर के आदिवासियों का यह आंदोलन महानगर की सहृदय जनता को भी आंदोलित और विचलित करने की क्षमता रखता है । लालचन, डॉक्टर साहब, रुमझुम, मास्टर, ललिता, बुधनी दी, एतवारी के चरित्र भुलाए नहीं भूलते । ये चरित्र प्रामाणिक और विश्वसनीय, सजीव एवं वास्तविक हैं ।

'ग्लोबल गाँव के देवता' में उपन्यासकार ने कोयलाश्रम के शिवदास बाबा और उनके कंठीधारी आंदोलन के माध्यम से दिखाया है कि, किस प्रकार बाबा अपने धार्मिक पाखंड़ों से भोली-भाली असुर जनसमुदाय को उल्लू बना रहा है और बहुराष्ट्रीय कंपनियों के साथ मिलकर अपना स्वार्थ सिद्ध कर रहा है- "शिवदास बाबा और विधायक जी का यह सोचना सही था कि वेदांग जैसी बड़ी कंपनी इस इलाके में केवल कंटीले तार की बाड़-बंदी करने नहीं आई है । उसे अपनी फैक्ट्री के लिए कोयला बीघा अंचल में कई सौ एकड़ जमीन चाहिए । एम.पी.साहब ने दिल्ली में ही सेटींग कर ली थी । वहीं छोटे काम के बहाने, इलाके को जानने-समझने-जितने का त्रिसूत्री फॉर्मूला समझाकर ले आए थे । अब बाबा जी और विधायक जी के शेयर की सौदेबाजी होनी थी ।"[124]

---

[123] वही, पृ.सं.5

[124] वही, पृ.सं.89

आदिवासी का शोषण महाजन, पूँजीपति, सरकारी कर्मचारी, पुलिस अधिकारी करते आ रहे हैं। आदिवासियों का अनंत उत्पीड़न आज भी हो रहा है। उन पर अनेकानेक जुल्म आज भी हो रहे हैं। देश के कई आदिवासी भयावह गरीबी, भूख, बेरोज़गारी, कुपोषण, बीमारी और विस्थापन के शिकार हैं। केवल शिक्षित एवं रोज़गार प्राप्त आदिवासी इसका अपवाद हैं। अधिकांश भारतीय जनता आज भी इस तथ्य से अनभिज्ञ है कि आदिवासियों की पहचान क्या हैं ? उनकी स्वशासन आधारित सामाजिक व्यवस्था क्या ? स्वतंत्रता संग्राम में उनकी भागीदारीता क्या है ? मानव सभ्यता एवं संस्कृति के विकास में उनका योगदान क्या है ? तथा प्राकृतिक संसाधनों (जल,जंगल,ज़मीन) से उनका संबंध क्या है ? ऐसे ही अनेक सवालों को 'ग्लोबल गाँव के देवता' में उठाया गया हैं।

असुर समाज में बढ़ती गरीबी और भूख के कारण उस समुदाय की जवान लड़कियों में संपन्न जमीनदारों, नौकरशाहों, खदान के मालिकों और प्रभावशाली कारिंदों की रखैलों के रूप में उनके हाथों का खिलौना बनने का उल्लेख भी इस उपन्यास में है। इस उपन्यास में असुर समुदाय के लोगों की चिंता इस प्रकार अभिव्यक्त हुई है- "लेकिन रुमझुम ने बताया कि यह शिकायत नहीं थी, बल्कि विलाप था। भूख और गरीबी ने अंदर से इतना खोखला कर दिया है कि सामाजिक व्यवस्था भरभरा गई है। अखाड़ा में बैगा-पाहन-पुजार और गाँव के बड़े-बूढ़ों की बात का वजन दिन पर दिन घटता जा रहा है। ठीक ही बात है कि घर में तीन-चार माह से ज़्यादा का अनाज नहीं हो तो कौन बेटों को गाँव छोड़ने और बेटियों को डेरा में काम के बहाने रखनी बनने से रोक सकता है।"[125]

"भूमंडलीकरण के तीन चरण माने जाते हैं- सीधे साम्राज्यवादी दौर का भूमंडलीकरण,दूसरे महायुद्ध के बाद का भूमंडलीकरण और उच्च-पूँजीवादी व उच्च-तकनीकी के

[125] वही, पृ.सं.39

मेल से बना और वैश्विक आर्थिक संस्थाओं व धनी देशों की बहुराष्ट्रीय कंपनियों की मार्फत फैला मौजूदा दौर का भूमंडलीकरण । जब राष्ट्र-राज्य का 'ग्लोबल गाँव के देवताओं' से गठजोड़ होता है, तब वे दोनों जितने अधिक लालची होते हैं और उतने ही अधिक खतरनाक भी ।"[126] उनके लोभ-लालच को बढ़ाने में विज्ञान उनकी मदद करता है- "सामान्य तौर पर इन आकाशचारी देवताओं को जब अपने आकाश मार्ग से या सेटेलाइट की आँखों से छत्तीसगढ़, उड़ीसा, मध्यप्रदेश, झारखंड आदि राज्यों की खनिज संपदा, जंगल और अन्य संसाधन दिखते हैं तो उन्हें लगता है कि अरे, इन पर तो हमारा हक है । उन्हें मालूम है कि राष्ट्र-राज्य तो वे ही है, तो हक तो उनका ही हुआ । सो इन खनिजों पर, जंगलों में घूमते हुए लँगोट, पहने असुर-बिरजिया, उरांव-मुंडा आदिवासी, दलित-सदान दिखते हैं तो उन्हें बहुत कोफ्त होती है । वे इन कीड़ों-मकोड़ों से जल्द निजात पाना चाहते हैं ।"[127]

सुप्रसिद्ध आधुनिक मार्क्सवादी आलोचक मैनेजर पांडेय ने इस उपन्यास के संदर्भ में कहा है कि, "संरचना के लिहाज से 'ग्लोबल गाँव के देवता' ऐसा उपन्यास है जिसमें आख्यान और कविता की कथादृष्टि और काव्य संवेदना का दुर्लभ सामंजस्य है ।"[128]

अंततः यह कहा जा सकता है कि, भूमंडलीकरण के नाम पर राज्य व केंद्रीय सरकारें पूँजीपति वर्ग, अंतर्राष्ट्रीय मुद्राकोष और विश्व व्यापार संगठन आपस में मिलकर युगों-युगों से शोषित आदिवासी वर्ग का शोषण कर रहे हैं । बहुराष्ट्रीय कंपनियां सरकार के साथ मिलकर इस वर्ग की प्राकृतिक संपदा व जमीन पर अपना कब्जा कर रही हैं तथा अपने उत्पादन को बढ़ावा दे रही हैं । यदि यह वर्ग अपने शोषण के विरुद्ध सामाजिक आंदोलन या क्रांति का आह्वान

---

[126] युद्धरत आम आदमी, पृ.सं.90

[127] वही, पृ.सं.93

[128] नया ज्ञानोदय, पृ.सं.16

करता है, तो उन्हें 'माओवादी' या 'नक्सलवादी' कहकर उपद्रवी घोषित किया जाता है। कुल मिलाकर कहा जा सकता है कि आदिवासी क्षेत्रों में जो आधुनिक विकास कार्यक्रम चल रहे हैं, उनसे अनेक नई समस्याएं जन्म ले रहीं हैं। तकनीकी विकास के कारण राष्ट्र-राज्य आदिवासियों के उत्पादन के सभी साधनों पर धीरे-धीरे हावी हो जाते हैं और इसी शोषण की मार्मिक अभिव्यक्ति इस उपन्यास में मिलती है।

रणेंद्र का यह उपन्यास महज सौ पृष्ठों का है। लेकिन इन सौ पृष्ठों में ही अतीत की एक ताकतवर जनजाति की जिंदगी के संकटों, उसकी आकांक्षाओं और संघर्षों के बहाने उन्होंने एक तरह से संपूर्ण आदिवासी जीवन के संकटों और संघर्षों से हिंदी पाठकों को परिचित कराया है और सभ्यता, संस्कृति, साम्राज्यवाद, राष्ट्र और विकास संबंधी अवधारणाओं को लेकर कई गंभीर सवाल भी उठाये हैं।

पंचम अध्याय

ग्लोबल गाँव के देवता का शिल्प-विधान

5.1 कथा-वस्तु

5.2 भाषा-विधान

5.3 लोकोक्ति और मुहावरों का प्रयोग

5.4 शब्द-भंडार

पंचम अध्याय

'ग्लोबल गाँव के देवता' का शिल्प-विधान

'शिल्प' शब्द अंग्रेजी के 'टेकनीक' शब्द का हिंदी अनुवाद है। ऑक्सफोर्ड डिक्शनेरी में शिल्प की परिभाषा इस प्रकार दी गयी है- "कलात्मक कार्य विधि की वह रीति, जो संगीत अथवा चित्रकला में प्राप्य है।"[129] हिंदी कोश में भी कहा गया है कि- "शिल्प से अभिप्रायः हाथ से कोई वस्तु तैयार करने अथवा दस्तकारी या कारीगरी से है।"[130]

'शिल्प' या 'टेकनीक' की शाब्दिक व्याख्या से ज्ञात होता है कि शिल्प का अर्थ ढंग, विधि, रीति अथवा विधान है। कला या काव्य के संदर्भ में 'शिल्प' का संबंध अभिव्यक्ति की प्रणाली से है।

5.1. कथावस्तु

कथावस्तु उपन्यास का प्राण है। जिस उपन्यास की कथावस्तु का जितना व्यवस्थित संगठन होगा, वह उतना ही सफल और प्रभावोत्पादक समझा जायेगा। इसके विपरीत उसमें जितनी अव्यवस्थाएँ होगी, वह उतना ही असफल और प्रभावहीन होगा। अतः प्रत्येक उपन्यासकार को अपनी कथावस्तु के चयन में और उसकी संस्थापन में अत्यंत जागरुक तथा सजग रहने की आवश्यकता है। उपन्यासकार अपनी कथावस्तु इतिहास, पुराण, जीवन, अनुश्रुति चाहे जहाँ से ग्रहण कर सकता है, अथवा कल्पना के बल पर उसे जन्म दे सकता है।

[129] आक्सफोर्ड डिक्शनेरी आफ कंटेंट इंग्लिश, पृ.सं.1258

[130] वृहत हिंदी कोश, पृ.सं.1334

उपन्यासकार को ऐसी कथावस्तु का चयन करना चाहिए जो जीवन की स्वाभाविकता तथा समग्रता से परिप्रेत हो।

उपन्यास के कथावस्तु में तीन गुणों का होना आवश्यक है- 1) रोचकता 2) संभावना एवं 3) मौलिकता। उपन्यास की रोचकता ही पाठकों को उपन्यास की ओर आकर्षित करती है। रोचकता लाने के लिए उपन्यासकार को कौतूहलता और नवीनता की सृष्टि करनी पड़ती है। रोचकता की भांति संभावना भी उपन्यास की कथावस्तु के लिए आवश्यक है। पाठक उपन्यास से अपने ही जीवन-जगत् का प्रतिबिंब देखना चाहता है और जग-जीवन में जो घटनाएं घटित न हो सके, उनका वर्णन इस लगाव के लिए घातक होता है, इसलिए उपन्यासकार को घटनाओं की संभाव्यता के प्रति सचेत रहना चाहिए। इन दोनों गुणों के अतिरिक्त मौलिकता भी कथावस्तु का अनिवार्य तत्व है। कुल मिलाकर किसी भी सफल उपन्यास के कथानक में रोचकता, संभाव्यता, और मौलिकता का होना परम आवश्यक है।

उपन्यास की कथावस्तु में चरित्रों का विकास भी होता है और घटनाओं का वर्णन भी। उपन्यासकार कभी चरित्रों को प्रधानता देता है और कभी घटनाओं को। इस आधार पर कथावस्तु के दो भेद होते हैं- 1) चरित्र प्रधान कथावस्तु, 2) घटना-प्रधान कथावस्तु। उपन्यास जीवन का सर्वांगीण चित्रण प्रस्तुत करता है और जीवन अनेक रूप तथा विषय घटनाओं का पुंज है, इसलिए उपन्यास में भी अनेक प्रमुख और गौण घटनाएँ वर्णित होती हैं। जो चरित्रों के विकास में सहायक होती हैं। उपन्यासकार अपनी कथावस्तु की अभिव्यक्ति तीन प्रकार से करता है। पहला है- वर्णनात्मकता का ढंग। इसमें उपन्यासकार तटस्थ भाव से कथा को स्वयं कहता हुआ चलता है। दूसरा है- पात्रों के मुख से। इसमें उपन्यासकार कथोपकथन के सहारे कथानक के तंतु बुनता चलता है। तीसरा है- पत्र प्रणाली। इसमें पत्रों के माध्यम से ही सारी कथावस्तु का संगठन किया जाता है। इन्हीं मानदंडों के आधारपर 'ग्लोबल गाँव के देवता' उपन्यास के कथानक को प्रस्तुत किया जा रहा है।

उपन्यास का प्रारंभ एक असुर मंत्र से होता है । उपन्यासकार के जीवन में लंबी बेरोज़गारी, बदहाली, उपेक्षा, अपमान की गाढ़ी काली रात के बाद रौशनी आयी थी । तो उपन्यासकार (मास्टर) को नियुक्ति पत्र देखकर ख़ुश होना है या उदास, कुछ समझ में नहीं आ रहा था । मास्टर की पोस्टिंग उनके घर से ढ़ाई-तीन सौ किलोमीटर दूर हुई थी । पीटीग गर्ल्स रेज़िडेंशियल स्कूल में जो प्रखंड कोयलबीघा का भौरापाट । पहाड़ के ऊपर, जंगलों के बीच वह आवासीय विद्यालय । वह आदिम जनजाति परिवार की बच्चियों के लिए था । उस स्कूल में मास्टर विज्ञान- शिक्षक के रूप में नियुक्ति हुई थी ।

मास्टर इस इलाके में हरगिज जाना नहीं चाहते थे और उनके परिवारवाले भी उन्हें भेजना नहीं चाहते थे । इसलिए उनके बाबूजी अपने बच्चे (मास्टर) की पोस्टिंग राजधानी या आस-पास के इलाके में करने के लिए घिघिया रहे थे- "आप ही को आशीर्वाद से नौकरी भेंटायी है, अब पोस्टिंग भी लड़का का ठीक-ठीक जगह हो । आप ही को तो कृपा करनी है ।"[131] बाबूजी का विधायक के सामने घिघियाने का कोई मतलब नहीं रहा । जैसे-तैसे ज्वाइनिंग की आखिरी तारीख़ 30 जून आ ही गयी ।

मास्टर थक-हारकर, उदास-निराश होकर जैसे-तैसे भौंरापाट स्कूल पहुँच गए । पर मास्टर का ध्यान विधायक जी पर लगा हुआ था । वहाँ क्वार्टर रहने लायक एक भी नहीं था । मकड़ी के जाल, धूल-धक्कड़ और सड़-से गये-किवाड़-खिड़कियाँ । एक लेडी पिऊन ने झाड़ू पोंछा लगाकर एक रूम रहने लायक कर दिया था । उस इलाके में कोई ढंग से बोलने-बतियाने वाला नहीं । शाम होते ही सन्नाटा उतर आता । बिजली आती-जाती रहती । एतवारी (पिऊन) मास्टर की भी रोटी सेंक दिया करती थी । उसका आदमी माइनर था, खान कामगार । खट कर, पी-पाकर आता, खाता और चुपचाप से सो जाता । एक रात मास्टर ने अपने साथी

[131] ग्लोबल गाँव के देवता, पृ.सं.7

किरानी बाबू के घर सखुआपाट में ठहरकर देखा । क्वार्टर तो था कोयलबीघा अंचल कार्यालय के हल्का कर्मचारी का । ख़ुद रहता नहीं था, किराये पर उठा रखा था । उन क्वार्टरों में इतना हंगामा-शोरगुल होता है, नींद आना मुश्किल हो जाता है- "मालूम हुआ ठेकेदार अंसारी साहब हैं और उनकी एक रखनी है रामरति । दोस्त-यार जुटते हैं । दारू-शारू चलती है । चढ़ जाती है तो मारपीट को बाद महफ़िल टूटती है । रोज़ रात यही रूटीन-तीन सौ पैंसठों दिन, बीना नागा आगे का इंटरेस्ट हो तो उसकी भी व्यवस्था । रूलाई-धुलाई के बाद ज़िंदा ब्लू.फ़िल्म बिना टिकट । फुल बल्ब-लाईट, किवाड़-खिड़की खुल्ला । कोई लाज-लिहाज़ नहीं इन दोनों को । साहूजी का रिकार्ड चालू था ।"[132]

एकाएक मास्टर के कमरे में एक असुर काँपता हुआ आ जाता है । मास्टर को कुछ सुझा नहीं कि उस आदमी से बात कैसे शुरू करें ? उसी बीच एतवारी आ जाती है । और कहती है- "अरे ! ई तो दादा हैं । लालचन दादा । हमरे गाँव नवा अंबाटोली के प्रधान, बैगा बाबा के बड़े बेटे लालचन असुर ।"[133]

असुर नाम सुनते ही मास्टर के बचपन की सारी कहानियाँ उलटी घुम रहीं थी । हफ़्ता भर से इन लोगों के साथ रह रहा हूँ, "न सूप जैसे नाख़ून दिखे,न ख़ून पीनेवाले दाँत । कैसी-कैसी ग़लत धारणाएँ ! ख़ुद पर ही अजब-सी शर्म आ रही थी ।"[134]

असुर समाज में व्याप्त अंधश्रध्दा, अंधविश्वास प्रचुर मात्रा में दिखाई देता है । किंतु वर्तमान समय में थोड़ा कम नज़र आता है । खरीफ़ के सीजन में दो-एक घटनाएँ घट ही जाती हैं । यहाँ आदमी के जान की कोई कीमत नहीं होती । असुर लोग ऐसा मानते हैं कि धान को आदमी के ख़ून में सामकर बिचड़ा डालने से फ़सल बहुत अच्छी होती है । इस अंधविश्वास को

---

[132] वही, पृ.सं.9,10

[133] वही, पृ.सं.11

[134] वही, पृ.सं.12

नष्ट करने के लिए मास्टर इन सब का विरोध करते हैं तो वहाँ के असुर कहते है- "आप लोग दो अक्षर पढ़ गये हैं तो सब कुछ मज़ाक़ लगता है । हँसी-मज़ाक़ नहीं है समझे ! फेरा में पड़िएगा तो समझ में आ जाएगा ।"[135] असुर लोगों की यह धारणा है कि, देवी पूजन के सीज़न में बलि ख़ुद-ब-ख़ुद गाँव पहुँच जाता है ।

'ग्लोबल गाँव के देवता' में इन सब के बावजूद विश्व के अनेक आदिवासियों को चित्रित करने का प्रयास किया गया है । जैसे- अमेरिका के इंका, माया, एज्टैक आदि । संस्कृतिविहीन, भाषाविहीन, साहित्यविहीन तथा धर्मविहीन आदिवासियों के दिखाते हुए रणेंद्र कहते हैं- "छाती ठोंक-ठोंककर अपने को अत्यंत संहिष्णु और उदार कहनेवाली हिंदुस्तानी संस्कृति ने असुरों के लिए इतनी भी जगह नहीं छोड़ी थी । वे उनके लिए बस मिथकों में शेष थे । कोई साहित्य नहीं, कोई इतिहास नहीं, कोई अजायबघर नहीं ।"[136]

'ग्लोबल गाँव के देवता' में केवल भारतीय आदिवासियों पर ही नहीं, बल्कि दुनिया के अन्य देशों और महादेशों में हो रही शोषण, दमन, अन्याय तथा अत्याचार का उल्लेख हुआ है- जैसे- दक्षिण अमेरिका और आफ्रिका के विभिन्न देशों में, उत्तरी अमेरिका में घटित घटनाओं का भी उल्लेख किया है । लेखक इन घटनाओं के बारे में जानता हैं । असुर समाज में बढ़ती ग़रीबी और भूख के कारण उस समुदाय की जवान लड़कियों में संपन्न ज़मीदारों, नौकरशाहों, खदान के मालिकों और प्रभावशाली कारिंदों की रखैलों के रूप में उनके हाथों का खिलौना बनने का उल्लेख भी इस उपन्यास में है । असुर समाज में स्त्री-पुरूष के बीच समानता है और स्त्री अपना सहज जीवन जीने के लिए स्वतंत्र है । इसलिए उपन्यासकार असुर स्त्रियों को 'जनानी' नहीं बल्कि 'सियानी' कहते है । उपन्यास में मजेदार बात यह है कि, वर्तमान में हम

---

[135] वही, पृ.सं.13

[136] वही, पृ.सं.33

जिसे 'लिविंग टुगेदर' कहते है, वह आदिवासियों में बहुत पुराना है और प्राचीन काल से ही चलती आ रही प्रथा है । उपन्यासकार ने असुर समुदाय की संस्कृति, प्राकृतिक, पूजा-पाठ, देवी-देवताओं को भी इस उपन्यास के माध्यम से प्रस्तुत किया है ।

इस उपन्यास में पाँच कविताएँ हैं वे कथा को गति देती हैं और प्रभाव को गहराई भी । उपन्यास के आरंभ के पहले एक असुर मंत्र है जो असुर जीवन की सीमा और संभावना, सच्चाई और आकांक्षा तथा भावना और कल्पना को व्यक्त करता है । दूसरा गीत असुरों के परिवार में देवर-भाभी के बीच मौजूद आत्मीय संबंध को व्यक्त करता है, जैसा कि, मुख्यधारा के गाँवों में भी दिखाई देता है । तीसरा गीत में शिकायत या विलाप है । चौथा गीत प्रेम की प्रगाढ़ता का है जो एक प्रेम प्रसंग में गाया गया है । पाँचवा गीत रेड इंडियन समुदाय के सर्वनाश की वास्तविकता और समुदाय के अंत की संभावना का गीत है । इन गीतों को सुप्रसिध्द मार्क्सवादी आलोचक मैनेजर पांडेय कहते है- "यह विषाद से भरा गीत इस उपन्यास का प्राण है, मरणांतक दर्द से छटपटाता प्राण । यह असुर समाज की हताशा का भी गीत है ।"[137]

उपन्यास समाप्त इन शब्दों के साथ होता है- "राजधानी के यूनिवर्सिटी हॉस्टल से सुनील असुर अपने साथियों के साथ कोयलबीघा, पाट के लिए निकल रहा था । लड़ाई की बागडोर अब उसे सँभालनी थी ।"[138]

5.2.भाषा-विधान

किसी भी उपन्यासकार के पास अपनी रचना के निर्माण के लिए केवल एक ही माध्यम होता है-शब्द। जिस प्रकार संगीतज्ञ के पास ध्वनि और चित्रकार के पास रंग होती है, उसी प्रकार उपन्यास के पास शब्द होते हैं । उपन्यास जीवन की लालिमा और बहुवर्णी छटा को

[137] नया ज्ञानोदय पृ.सं.16

[138] ग्लोबल गाँव के देवता, पृ.सं.100

प्रस्तुत करने के लिए शब्दों का प्रयोग करता है, अथवा स्मृति और अनुभूति के अंधकार व प्रकाशपूर्ण क्षणों को अक्षरों में बांधने की चेष्टा करता है। वह शब्दों का चित्र अंकित करने की क्षमता से युक्त होना चाहिए। उसमें ऐसी क्षमता होनी चाहिए कि न केवल चित्र को बल्कि ध्वनि को भी व्यंजित कर सके। भाषा का शाब्दिक अर्थ है- भाव प्रकाश करने का साधन जन-समाज में प्रचलित शब्दावली और उसके बरतने का ढंग, बोली एवं व्यक्ति विशेष के लिखने का ढंग। भाषा संप्रेषण का माध्यम है। कोई भी विषय कितना ही सुंदर क्यों न हो पर अगर भाषा का सही सहारा न मिला हो तो वह विषय अपनी पूरी महत्ता के साथ हमारे सामने सम्मुख नहीं हो पायेगा। "भाषा ऐसे शब्द समूहों का नाम है जो एक विशेष क्रम से व्यवस्थित होकर हमारे मन की बात दूसरे मन तक पहुँचाने और उसके द्वारा उसे प्रभावित करने में समर्थ होती है। अतएव भाषा का मूल आधार शब्द है।"[139]

कहने को तो भाषा 'कोश' में आए शब्द ही हैं जो हर समय वही अर्थ देते हैं। जो हम बोलते हैं, पर साहित्य में उतरने के बाद भाषा कुछ और हो जाती है। उसमें लेखक की सृजनात्मकता भी आ जाती है। इसी सृजनात्मक भिन्नता के कारण एक लेखक दूसरे लेखक से अलग दिखई देता हैं। "भाषा का इस्तेमाल एक जोखिम से भरा हुआ काम है। इस जोखिम को भुगतना हर उस व्यक्ति के लिए संभव नहीं होता जो 'लिखता' है। जो लेखक या लेखक पीढ़ी इस जोखिम को उठाती है वही कुछ कर पाती है। नहीं तो जो भाषा हमें मिलती है वही कुछ कर पाती है। नहीं तो जो भाषा हमें मिलती है वह अपूर्ण होती है और नई भाषा की खोज में यह खतरा भी होता है कि वह वैचारिक संवाद की भाषा बन भी पायेगी या नहीं। इस खतरे को या जोखिम को सृजक, लेखक ही वहन कर सकता है।"[140]

---

[139] वृहत् हिंदी कोश, पृ.सं.944

[140] नयी कहानी की भूमिका, पृ.सं.167

प्रेमचंद ने पहली बार भाषा की बोधगम्यता की आवश्यकता को समझा, एवं सरल-सुबोध, आम बोलचाल की भाषा पर जोर दिया। प्रेमचंद की भाषा उनके तक ही सीमित न रहकर उस युग की भाषा हो गयी थी। जैनेंद्र एवं अज्ञेय के माध्यम से भाषा में एक बदलाव आया। वैसे तो सामान्य जीवन में हम भाषा का प्रयोग कई स्तरों पर करते हैं। बोलचाल की भाषा और साहित्य की भाषा में अंतर होता है। साहित्य की भाषा बोल-चाल का ही एक रूप होती है। वह उससे बिल्कुल पृथक हो ही नहीं सकती। पर साहित्यकार की विशिष्ट अनुभूतियों से युक्त होकर विशिष्ट और सर्जनात्मक हो जाती है। भाषा में से हमारी सोच और अनुभव का रिश्ता बड़ा गहरा होता है। जो भाषा जितनी ही विकसित होती है उसकी सोच और उसका अनुभव उतना ही परिष्कृत तथा समृद्ध होता है।

इसलिए रणेंद्र के 'ग्लोबल गाँव के देवता' की भाषा उनके अनुभव की भाषा है। तथा साथ में पारंपारिक एवं आधुनिक भी है। जिसमें उन्होंने हिंदी के साथ-साथ भोजपुरी, आसुरी एवं अंग्रेजी के शब्दों का प्रयोग किया है। किसी भी रचनाकार के लिए भावों को व्यक्त करने का साधन भाषा ही है। अतः भावों का तथा भाषा का अविच्छिन्न संबंध है। कोई भी भाव बिना भाषा के व्यक्त नहीं किया जा सकता है और कोई भाषा भाव रहित नहीं होती, किंतु वही भाषा सफल समझी जाती है जिसमें भावों को व्यक्त करने की पूर्ण क्षमता हो, यही कारण है कि रणेंद्र जी ने इस उपन्यास में अंग्रेजी के शब्दों का प्रयोग अधिक किया है, और साथ में बोली-भाषा का भी प्रयोग किया है।

उस इलाके के सिपाही की भाषा का एक उदाहरण दृष्टव्य हैं-

"का खा कर कोल-कूकुर, असुर-वानर सब नेतागिरी करेगा? नेतागिरी का होता है, ई बूझता भी है का सब ? "

"अरे! हमरा इलाका में होता तो दूइए मिनिट में गरमी झाड़ देता । कल्हे शाम को तो अंबाटोली में एक ढ़ो लड़के की भरपेट पिटाई की थी । ऊ भी बूझता होगा कि किसी से भेंट हुआ है ।"

"ई जवान-जवान छौंड़िन सबको तो गरमी चढ़ा है धरना देने आयी है कि जवानी दिखाने आयी हैं।"

"ई छौंड़िन सबको जानते नहीं हैं हम? इनमें से कौनो ऐसन नही है जो हमारी जाँघ के नीचे से नहीं निकली हो ।"[141]

5.3. लोकोक्ति और मुहावरों का प्रयोग

1960 के बाद के उपन्यासों की भाषा को अधिक से अधिक विषय के निकट लाने में लोकोक्तियों और मुहावरों का बहुतायत प्रयोग होने लगा है । इसके प्रयोग में लेखक के स्पष्टीकरण को प्रचलित प्रामाणिकता का बल मिल जाता है । मुहावरों एवं लोकोक्तियों के द्वारा गद्य लेखन की भाषा को एक मजबूत आधार मिलता है । इससे भाषा को अधिक प्रभावशाली बनाया जा सकता है । आज के लेखक पूर्व प्रचलित लोकोक्तियों और मुहावरों का भी प्रयोग कर रहे हैं तथा नवीन मुहावरों का निर्माण भी ।

'ग्लोबल गाँव के देवता' में पारंपारिक लोक-भाषा में कहावतों और मुहावरों का प्रयोग किया गया है । यह उन पहाड़ों में आज भी प्रचलित है। जो इस प्रकार हैं-

1) असुरिन का जानी पकावे धुसका और गुलगुरा हो । 2) ऐसनो ई मन गंदा-शंदा रहेना, ई मन के छुअल नी खाए के चाही । 3) ओल को गलाना और कोल को समझाना कठिन है । 4) मन बिल्लियों उछलने को कर रहा था । 5) माथा पीटना 6) माँ पिछली रोटी खिलाती रही

[141] ग्लोबल गाँव के देवता, पृ.सं.87

शायद । 7) घिघियाना 8) मानो धरती माँ के चेहरे पर चेचक के बड़े-बड़े धब्बे हों । 9) मन भीगे कंबल सा भारी होने लगता । 10) कब खूँटा उखाड़ूँ और कब भाग निकलू । 11) बिल्ली को दूध की रखवीली का भार । 12) हू-ब-हू बिल्ली के गले में घंटीवाला मामला । 13) कल का पैदा हुआ छोकरा भी आग ही मूतता था । 14) अपनी ही मौत की ख़बर सुनी हो । इत्यादि लोकोक्तियों और मुहावरों का प्रयोग इस उपन्यास में सफलतापूर्वक हुआ है ।

5.4. शब्द-भंडार

इस उपन्यास के शब्द भंडार पर दृष्टि डालें तो इसमें प्रमुख रूप से भोजपुरी, संस्कृत, आसुरी, फारसी तथा अंग्रेजी के शब्द आए हुए हें । जो अपनी भाषिक परंपरा का निर्वाह करते हैं ।

कुछ भोजपूरी के शब्द दृष्टव्य हैं- 'आप ही के आशीर्वाद से नौकरी भेंटायी है',

'देखो भाई ! गुप्ताजी । कहा है पी.ए. साहब हो!',

'जी सर ! हियें हैं ।, आप लोग नय बुझिएगा हो! ई सब पूजा-पाठ भगत-भगती की बात है, नय बुझिएगा । धौंकनी धौंक,।'

साथ ही संस्कृत के कुछ पद आए है जो तुलसीदास जी की है- 'जाकी रही भावना जैसी, प्रभु मूरति तिन देखहिं तैसी ।' इसके अलावा आसुरी भाषा का भी प्रयोग इस उपन्यास में दिखाई देती है- 'आऊर ऐसन धुसका, कचड़ी, प्याजी बुनिया का सुवाद तो आज तक भेंटबे नहीं किया था ।'

"अरे ! का काम करना है हो । हमारे जैसे मातबर आदमी भी कुदार पाड़ेगा तो कोल-बकलोल का करेगा? काम-वाम नहीं करते हैं । ई माइंस मालिक लोगों के मुँह में हाथ डालकर

मनचाहा निकाल लेते हैं। बबवा बोलता है, दू रूपैया, हम हँसोतते हैं चार रूपैया। बबवा का मुँहमाँगा बबवा के पास, बाकी हमरे पास। ई अड़तीस-चालीस, सब माइंस से महिना फिक्स है। फिक्स। समझे कि नहीं !"[142]

"अरे? क्या डॉगदर, कौन बुड़बक देहाती भुच्च लोग से भेंट करवा दिये ! एही लोग से परिचय-पाती का स्टैंडर है का हमरा ? हम तो ऐसन लोग से मुँह तक नहीं लागते। ऐसे तुमरे कारण तो कुछो कर सकते हैं.....।"

इस उपन्यास में अंग्रेजी शब्दों का बहुतायत प्रयोग हुआ है। जिसमें आधुनिकता की तलाश की जा सकती है। अंग्रेजी के शब्द इस तरह हैं- रेज़िडेंशियल,स्कूल, प्रिमिटिव ट्राइब्स, पोस्टिंग, डायरेक्ट, फाइनल, सिक्रेटरी, ज्वाइनिंग, क्वार्टर, लेडी पिऊन, हेडमिस्ट्रेस, टीचर्स, ऑफ़िस, टाइम, माइनर, हॉस्टल, कैम्पस, क्रिम कलर, शेविंग किट, रजिस्टर्ड प्रैक्टिशनर, सीजन, नॉर्मल, प्रिंसिपल, ग्रेजुएशन, ओवरलोडिंग, ऑफ़सर, लास्ट सीन, फिक्स़ड, ऐंथ्रोपॉलोजी, स्किल्ड लेबर, क्लर्क, बिल्डिंग, एडमिशन, हॉल्फ ईयरली, टेस्ट रिजल्ट, क्लास एलॉट, इंटर पास, फमेंटेशन, साइंस टीचर, आदि। इतना ही नहीं रणेंद्र के इस उपन्यास में हर पन्ने पर दो-चार अंग्रेजी के शब्द मिल जाते हैं। इस उपन्यास में अंग्रेजी शब्दों का प्रयोग अधिक मात्रा में दिखाई देता है। इसके साथ-साथ नागपूरी भाषा का भी प्रयोग 'ग्लोबल गाँव के देवता' में दिखाई देता है।

कुल मिलाकर देखा जाए तो रणेंद्र जी ने इस उपन्यास में पात्रों के अनुकुल भाषा का निर्माण किया है। जो आज के समकालीन उपन्यासों की एक विशेषता है। जो पात्र जिस

[142] वही, पृ.सं.74

उपसंहार

उपसंहार

वर्तमान समय में वैश्वीकरण, उत्तर-आधुनिकता एवं तकनीकी वर्चस्ववाद की प्रक्रिया के बीच अस्तित्व की पहचान एक महत्वपूर्ण प्रश्न है। यह सच है कि तकनीकी वर्चस्ववाद की दुनिया में परिवेश लगातार सिकुड़ता जा रहा है लेकिन साथ ही इसने मनुष्य के अस्तित्व को गहरे संकट में डाल दिया है। इस अस्तित्व, आत्मसम्मान के संकट से उबरने की प्रक्रिया में अनेक छोटे-बड़े संघर्ष दृष्टिगत होते हैं जिनमें मुख्य रूप से आदिवासी समाज के संघर्ष उल्लेखनीय है।

अस्तित्व के लिए संघर्ष ही आदिवासी समाज की वर्तमान सच्चाई है। अस्तित्व के इस संघर्ष का मुख्य मुद्दा है सरकार व उसके एजेंटों द्वारा विकास एवं राष्ट्रहित के नाम पर आदिवासियों के जल, जंगल और ज़मीन जैसे जीवन स्त्रोतों एवं संसाधनों का छीना जाना। आज प्रश्न यह उठता है कि इस अस्तित्व की समस्या ने इतना उग्र-रूप धारण कैसे कर लिया ? वास्तव में हमने विकास की जो प्रक्रिया अपनायी वह एकांगी थी। शहरों में अचानक गगनचुंबी इमारतें, कल-कारखाने, उद्योग धंधे खड़े हो गये, किंतु शहर के बाहर के परिवेश को जो कि मनुष्य जिंदगी से जुड़ था उसे हाशिये पर रखा गया। दरअसल जहाँ-जहाँ आदिवासी है, वहाँ भरुपूर प्राकृतिक संसाधन मौजूद हैं। यूरेनिम, माइका, कोयला, लोहा तथा तांबा आदि सभी खनिज आदिवासी बहुल इलाकों में पाये जाते हैं। साथ ही ये इलाके पहाड़ी हैं जहाँ बड़ी-बड़ी नदियाँ भी बहती हैं। इन नदियों पर बड़े-बड़े बाँध बनाये गए जिससे लाखों आदिवासी विस्थापित किये गये। विकास तो हुआ कुछ चुनिंदा लोगों का किंतु असंख्य लोगों की कीमत पर-विशेषकर आदिवासियों की कीमत पर। ऐसे अनेक सवाल रणेंद्र अपने उपन्यास 'ग्लोबल गाँव के देवता' तथा 'रात बाकी एवं अन्य कहानियाँ' में उठाते हैं।

वस्तुतः बीसवीं सदी के अंतिम दो दशकों में ही आदिवासी जीवन उपन्यास लेखन और विमर्श का विषय बना है। समृद्ध और संपन्न समाज मन में ऐसी अनेक घनी झाड़ियाँ हैं जिन्हें

चीरकर आदिम समाज की गुफाओं तक सामाजिक विकास के सूर्य की कोई किरण कभी पहुँची नहीं। घास-पाँत, बेत और लकड़ी की बनी झोपड़ियों को जो अपना निवास समझता है और करोड़ों की राशि का प्रावधान उनके उन्नयन के लिए शासन की ओर से घोषित होता किंतु यह शोध का विषय बनता है कि उनमें से सौ रूपये भी उन तक पहुँचे कि नहीं।

'ग्लोबल गाँव के देवता' में आदिवासी विमर्श दृष्टिगोचर होता है। रणेंद्र ने इस उपन्यास के माध्यम से अनेक सवाल उठाए हैं जैसे-आदिवासियों की पहचान क्या है ? उनकी धार्मिक मान्यता क्या है? आदिवासियों के अस्तित्व क्या है ? उनकी आस्थाएँ क्या है ? प्राकृतिक संसाधनों (जल, जंगल, जमीन) से उनका संबंध क्या है ? आदि सवालों को 'ग्लोबल गाँव के देवता' में उठाया गया है।

आदिवासियों का शोषण- महाजन, पूँजीपति, सरकारी कर्मचारी, पुलिस कर्मचारी आदि सत्ताधारीयों ने करते आ रहे हैं। उपन्यासकार ने केवल भारत के ही आदिवासी नहीं बल्कि विश्व के आदिवासियों पर होनेवाले अन्याय, अत्याचार, शोषण का चित्रण किया है। असुर समुदाय की गाथा सुनाते हुए उपन्यासकार को प्राचीन अमेरिका के इंका, माया, एज्टैक और सैकड़ों अन्य रेड इंडियंस याद आते हैं। इन लोगों की तरह ही असुर समुदाय को खदेड़ा जा रहा है। असुर समाज बदहाल ज़िदगी गुज़ारता नजर आ रहा है।

आदिवासी हिंदी उपन्यासों में 'ग्लोबल गाँव के देवता' एक महत्वपूर्ण उपन्यास दिखाई देता है। क्योंकि आज तक के आदिवासी हिंदी उपन्यासों में- किसी क्षेत्र के आदिवासियों को दिखाया गया है या विशेष रूप से भारत के आदिवासी, दलित तथा पिछड़े वर्ग को दिखाया गया है। लेकिन रणेंद्र ने इस उपन्यास में पूरे विश्व के आदिवासियों को समेटा है।

'भाषा' के स्तर भी 'ग्लोबल गाँव के देवता' ने एक विशिष्ट पहचान बनाई है। क्योंकि इस उपन्यास में अनेक भाषाओं का प्रयोग हुआ हैं। जैसे- हिंदी, अंग्रेजी, भोजपूरी तथा असुरी भाषा का प्रयोग इस उपन्यास में दिखाई देता है। साथ ही उपन्यास के पात्र जिस क्षेत्र में रहते हैं उसी क्षेत्र की लोक-भाषा का प्रयोग करते हैं।

'ग्लोबल गाँव के देवता' का सूत्रधार एक ऐसा व्यक्ति हैं जिसे लंबी बेरोजगारी और अपमान की गाढ़ी काली रात के बाद बरवे जिला कोयल बीघा प्रखंड के भौंरापाट नामक जगह के एक आदिवासी स्कूल में मास्टरी का प्रस्ताव मिला है । अपने घर से तीन सौ किलोमीटर दूर पहाड़ के बीच स्थित इस जनजातीय स्कूल की कल्पना मात्र से ही उसका दिल बैठ जाता है । सूत्रधार का वहीं का हो जाना उपन्यास की पूरी कथा यात्रा को एक खास तरह की आत्मीयता और स्वानुभूत पीड़ा की टीस से भर देता है ।

अंततः यह कहा जा सकता है कि, 'ग्लोबल गाँव के देवता' वस्तुतः आदिवासियों-वनवासियों के जीवन का संतप्त सारांश है । शताब्दियों से संस्कृति और सभ्यता का पता नहीं किस छेनी से छन कर अवशिष्ट के रूप में जीवित रहने वाले असुर समुदाय की गाथा पूरी प्रामाणिकता व संवेदनशीलता के साथ रणेंद्र ने लिखी है । अनन्य व अन्य का विभाजन करने वाली मानसिकता जाने कब से हावी है । आग और धातु खोज करने वाली, धातु पिघलाकर उसे आकार देने वाली कारीगर असुर जाति को सभ्यता, संस्कृति, मिथक और मनुष्यता सबने मारा है । 'ग्लोबल गाँव के देवता' असुर समुदाय के अनवरत जीवन संघर्ष का दस्तावेज है ।

परिशिष्ट

संदर्भ ग्रंथ सूची

I. आधार ग्रंथ सूची

अ.क्र.	पुस्तक का नाम	लेखक का नाम	प्रकाशक	वर्ष
1.	ग्लोबल गाँव के देवता	रणेंद्र	भारतीय ज्ञानपीठ	प्र.सं.2009

II.सहायक ग्रंथ

अ.क्र.	पुस्तक का नाम	लेखक का नाम	प्रकाशक	वर्ष
1.	अल्मा कबूतरी	मैत्रेयी पुष्पा	राजकमल प्रकाशन,दिल्ली	प्र.सं.2000
2.	आदिवासियों के बीच	श्रीचंद्र जैन	शिवानी बुक्स, दिल्ली	प्र.सं.2007
3.	आदिवासीः साहित्य यात्रा	सं. रमणिका गुप्ता	राधकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली	प्र.सं.2008
4.	आदिवासी स्वर और नई शताब्दी	सं. रमणिका गुप्ता	वाणी प्रकाशन, दिल्ली	दू.सं.2008
5.	आधुनिक हिंदी काव्य में मिथकीय कल्पना	वेंकटेश्वरराव	सलाम प्रकाशन, हैदराबाद	1983
6.	उपन्यास का समाजशास्त्र	गरिमा श्रीवास्तव	संजय प्रकाशन, दिल्ली	2006
7.	कचनार	वृंदावनलाल वर्मा	प्रभात प्रकाशन, दिल्ली	1946

8.	काला पादरी	तेजिंदर	नेशनल पेपर बैक्स, दिल्ली	प्र.सं.2005
9.	गाथा भोगनपुरी	किशोर कुमार सिन्हा	वाणी प्रकाशन, दिल्ली	1986
10.	जनजातीय भारत	डॉ.ए.आर.एन. श्रीवास्तव	मध्यप्रदेश ग्रंथ अकादमी, भोपाल	2004
11.	जहाँ बाँस फूलते हैं	श्री प्रकाश मिश्र	पार्श्व प्रकाशन, अहमदाबाद	प्र.सं.1997
12.	जो इतिहास में नहीं है	राकेश कुमार सिंह	भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली	प्र.सं2005
13.	झारखंड एन्साइक्लोपीडीया खंड-1,2,3,4.	रणेंद्र एवं सुधीर पाल	वाणी प्रकाशन, दिल्ली	2003
14.	म.फूले वाङ्मय	सं.धनजय कीर	मालशे प्रकाशन, मुंबई	प्र.सं.1980
15.	थोड़ा सा स्त्री होना चाहता हूँ	रणेंद्र	शिल्पायन प्रकाशन, दिल्ली	प्र.सं.2010
16.	धरती मेरा घर	रांगेय राघव	राजपाल प्रकाशन, दिल्ली	1975
17.	धूणी तपे तीर	हरिराम मीणा	साहित्य उपक्रम, दिल्ली	प्र.सं.2008
18.	भारतीय समाज संस्थाएँ और संस्कृति	रमानाथ शर्मा	अटलांटिक पब्लिशर, दिल्ली	प्र.सं.2000
19.	भारत की जनजातियाँ	शिवतोष दास	किताब घर, दिल्ली	प्र.सं. 1983
20.	भारत की जनजातियाँ	रमानाथ शर्मा	मध्यप्रदेश ग्रंथ अकादमी, भोपाल	1989

21.	मिथक एक अनुशीलन	मालती सिंह	लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद	1988
22	रात बाकी एवं अन्य कहानियाँ	रणेंद्र	राजकमल प्रकाशण, दिल्ली	प्र.सं.2010
23.	समय और संस्कृति श्यामाचरण दुबे		वाणी प्रकाशन,दिल्ली	2000
24.	Tribal India	Nadeem Hasnain	Palaka Prakashan, Delhi	Reprint 2002

III. कोश

1.	आधुनिक हिंदी कोश	गोविंद चातक	तक्षशिला प्रकाशन, दिल्ली	1986
2.	उच्चतर हिंदी कोश	डॉ. हरदेव बाहरी	स्वर्ण जयंती, दिल्ली	2008
3.	मानक हिंदी कोश-पहला खंड-1	रामचंद्र वर्मा	हिंदी साहित्य सम्मेलन,प्रगाय	1929
4.	भारतीय संस्कृति कोश	सं. लीलाधर शर्मा 'पर्वतीय'	राजपाल एंड सन्स,दिल्ली	1996
5.	बृहत हिंदी कोश	कलिका प्रसाद	ज्ञानमंडल लिमिटेड, वाराणसी	चतुर्थ सं. 1973
6.	समाजशास्त्र विश्वकोश	हरिकृष्ण रावत	अर्जुन पब्लिशिंग हाऊस	2009
7.	वैदिक कोश	सूर्यकांत	बनारस हिंदी विश्वविद्यालय	1963

8.	हिंदी पर्ययावाची कोश	डॉ.भोलानाथ तिवारी	प्रभात प्रकाशन, दिल्ली	1986
9.	हिंदी विश्वकोश	सं. नगेंद्रनाथ वसु	बी.आर. पब्लिकेशन, दिल्ली	2008
10.	हिंदी साहित्य कोश-भाग-1	धीरेंद्र वर्मा	ज्ञानमंडल लिमिटेड	पुर्नमुद्रण 2007
11.	हिंदी आलोचना की पारिभाषिक शब्दावली	अमरनाथ	राजकमल प्रकाशन, दिल्ली	प्र.सं.2009

IV. पत्र-पत्रिकाएँ

1.	अरावली उदघोष	बी.पी. वर्मा 'पथिक'	अंक-76, सितंबर-2007
2.	अक्षरा	गोविंद मिश्र	अंक-47, जन-मार्च-2000
3.	कथादेश	हरिनारायण	अंक-1,मार्च-2003
4.	नया ज्ञानोदय	रवींद्र कालिया	मार्च-2010
5.	तदभव	अखिलेश	अंक-22,जुलाई 2010
6.	संकल्य	प्रो.टी.मोहनसिंह	अक्तू-मार्च-2011(संयुक्तांक)
7.	सबलोग	किशन कालजयी	जनवरी 2011
8.	युद्धरत आम आदमी	रमणिका गुप्ता	अंक-105, अक्तू-दिसं-2010
9.	हंस	राजेंद्र यादव	मार्च- 2011